# साहित्य और जीवन

[ साहित्य के आदर्श और अभ्युत्थान-संबंधी लेख ]

बनारसीदास चतुर्वेदी

१९५४

सस्ता साहित्य मण्डल - प्रकाशन

# प्रकाशकीय

हमे हर्ष है कि हिन्दी के सजीव एव प्रभावशाली पत्रकार और साहित्य-सेवी श्री बनारसीदासजी चतुर्वेदी की यह पुस्तक 'मण्डल' से प्रकाशित हो रही है। चतुर्वेदीजी उन इने-गिने साहित्यकारो मे से है, जो साहित्य के सवर्द्धन के लिए निरन्तर चिन्तन और प्रयत्न करते रहते है। इतना ही नही, अनेक उदीयमान लेखको को उनके द्वारा प्रोत्साहन भी मिलता रहता है।

इस पुस्तक मे विद्वान लेखक की उन रचनाओ का सग्रह किया गया है, जो साहित्य और साहित्यकारो के आदर्शो की ओर निर्देश करती है। उन्होने एक बात पर बडा जोर दिया है, वह यह कि जिस साहित्य का जीवन से, मानव के सुख-दु ख से, सम्बन्ध नही है और जिसके पीछे मनुष्य का स्पन्दनशील हृदय नही है, वह साहित्य कदापि स्थायी नही हो सकता।

स्वतन्त्र भारत के आगे अब मुख्य प्रश्न नव-निर्माण का है और इस कार्य मे स्वाधीनचेता साहित्यकार काफी मदद दे सकते है। उन्हे किस तरह साहित्य-जगत् को सगठित करना है, किस प्रकार के साहित्य का सृजन करना है, साहित्य का अभ्युत्थान किस प्रकार हो सकता है और साहित्यकार मे किन गुणो का होना आवश्यक है, आदि-आदि बातो पर इस पुस्तक मे पर्याप्त सामग्री ह।

आशा है, साहित्यिको के लिए यह पुस्तक विचारोत्तेजक तथा विद्यार्थियो और जिज्ञासुओ के लिए प्रेरणाप्रद सिद्ध होगी।

—मत्री

# दो शब्द

'साहित्य और जीवन' विविध समयो पर लिखे गये लेखो का सग्रह है, जिनका सकलन और सम्पादन मेरे दाहिने हाथ वन्धुवर यशपाल-जी ने कर दिया है। इस सगह के एक लेख 'कस्मै देवाय' ने तो उन दिनो एक छोटा-सा आन्दोलन ही खडा कर दिया था। उसे पढकर आचार्य श्री महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने अपने ९-४-३४ के कृपा-पत्र मे लिखा था

"लेख क्या है, बम का गोला है। उसके प्रथमाश से बहुत से लोग नाराज होगे, पर बाते है सच्ची। मै आपके विचारो से सर्वथा सहमत हू। परन्तु मुझे अपनी तारीफ सुनकर बहुत सकोच हुआ। अरे भाई, मै उस तारीफ का मुस्तहक नही।"

एक साम्यवादी मित्र ने बतलाया था कि 'प्रगतिशील लेखक सघ' की स्थापना के एक वर्ष पूर्व वह लेख प्रकाशित हुआ था। कविवर दिनकरजी ने उसे अपनी कविता का विषय ही बना कर उसे गौरव प्रदान किया था।

उसी प्रकार 'साहित्य और जीवन' नामक लेख की भी काफी चर्चा रही थी। यद्यपि ये लेख मेरे पिछले बीस-पच्चीस वर्षो की साहित्यिक रचनाओ मे से चुने गये है और वसन्तोत्सव विषयक लेख तो पच्चीस वर्ष पुराना है, तथापि यह विश्वास है कि उनमे पाठको को आज भी कुछ विचार-सामग्री मिलेगी। इसका मुख्य कारण यह है कि हिन्दी जगत मे अभी भी गतिरोध विद्यमान है और तत्कालीन प्रश्न और भी उत्कट रूप मे हमारे सामने उपस्थित हो गये है।

हा, इतना तो स्वीकार करना पडेगा कि पिछले कुछ वर्षो की अनुभूतियो ने मेरे साहित्यिक दृष्टिकोण मे कुछ अन्तर अवश्य ला दिया

है। 'भावी युग और लेखक' मे उसका कुछ प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होगा।

जो लेख बिजली के सजीव तार की तरह हृदय को धक्का न दे सके अथवा जिससे पाठको को कुछ भी प्रेरणा न मिले उसे मैं असफल ही मानता हूं। निरुद्देश्य लेखो से तो कागज, स्याही और समय का अपव्यय ही होता है। इस कसौटी पर यह लेख-सग्रह ठीक उतरता है या नही, इसका फैसला समझदार पाठक तथा विज्ञ समालोचक ही करगे।

१२३, नार्थ एवेन्यू
नई दिल्ली
४-२-५४

—बनारसीदास चतुर्वेदी

# विषय-सूची

3906

: १ :

# साहित्य और जीवन

कुछ वर्ष पहले की बात है। उत्तर भारत के एक प्रसिद्ध नगर मे प्लेग फैलने की आशंका थी। चूहे मर रहे थे। दैवदुर्विपाक से इन्ही दिनो यहा के साहित्य-रसिको के हृदय-सरोवर मे काव्य-प्रेम की अदम्य मौज या लहर आई हुई थी। जगह-जगह कवि-सम्मेलन हो रहे थे। कुछ सज्जन हमारे पास भी पधारे और बोले, "आप भी अजीब आदमी है। इस नगर मे रहते हुए भी आप स्थानीय कवि-सम्मेलनो मे भाग नही लेते। मालूम होता है कि आपमे साहित्य-प्रेम का बिलकुल ह्रास हो गया है। लोग आपकी बेहद निन्दा कर रहे है।"

मैने उस समय उन काव्य-प्रेमियो की सेवा मे यही निवेदन किया, "लोग मेरे बारे मे क्या कहते है, इसकी मुझे चिता नही। पर मै, अगर गुस्ताखी माफ हो तो, एक सवाल आपसे पूछता हूँ, 'जनाब, यह तो फरमाइये कि जब शहर मे चूहे मर रहे हो, उस वक्त क्या मुनासिब है—कवि-सम्मेलन करना या चूहे पकडना ?''

आगन्तुक महानुभाव हसने लगे और उनमे से एक बोले—"तो क्या आप कवियो से चूहे पकडवायेगे ?"

मैने कहा, "इसमे हर्ज ही क्या है ? कवित्व क्या जीवन से और मनुष्यत्व से भी अधिक ऊची चीज है ? अपने घर, मुहल्ले अथवा नगर के स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए अगर हम साहित्य-सेवियो को पाखाने भी साफ करने पडे, मोरिया भी धोनी पडे, तो उसके लिए हमे तैयार रहना चाहिए। चूहे पकडना तो एक मामूली-सी बात है। मै तो गद्य-लेखक हूँ। यदि कवि लोग अपना दर्जा कुछ ऊँचा समझते है तो हम गद्य-लेखक पैसा चूहा ले लेगे, कवियो को दो पैसे चूहे का हिसाब पड जायगा। आप और

चया चाहते है ?"

मामला हसी मे उड गया और मै भी कवि-सम्मेलन और प्लेग तथा कवि और चूहो के किस्से को भूल गया। पर तीन-चार महीने बाद फिर वही प्रश्न बडे विकट रूप मे सामने आ गया।

एक सौ साढे चार डिग्री का बुखार चढा हुआ था। सिर पर बर्फ रखी जा रही थी। यह घटना हमारे जन्म-स्थान फीरोजाबाद की है, जो चूडियो के लिए हिन्दुस्तान-भर मे प्रसिद्ध है और जो दरअसल दुहेरी कीर्ति का अधिकारी है—यानी सुन्दर चूडियो के लिए और गन्दी नालियो के लिए भी। हा, तो मै बुखार मे पडा बडबडा रहा था और जब टेम्परेचर अधिक होता है तब कल्पनाशक्ति और भी तीव्र हो जाती है। मै सोच रहा था कि यह मलेरिया-बुखार है, मलेरिया मच्छरो से पैदा होता है और मच्छर पैदा करने के कारखाने हमारे आसपास पडौस मे ही बहुत-से खुले हुए है। हमारे चौबे-मुहल्ले मे ही, जिसकी जन-सख्या जच्चा-बच्चा-सहित कुल जमा २००–२२५ होगी, कई डाक्टर उत्पन्न हो चुके है, और वे ऊँचे-से-ऊँचे पदो पर पहुँच चुके है तथा विद्यमान है पर मुहल्ले की गन्दगी ज्यो-की-त्यो बनी है और हमारे घर से सौ गज की दूरी पर हमारे एक भूतपूर्व सहपाठी के एक सुपुत्र रहते है, जिन्होने अपनी अनुभवहीनता के कारण 'साहित्य-कलरव' नामक मासिक पत्र के ५-७ अको मे चार सौ रुपये घाटे के दे दिये है। ये रुपये मोरी मे गये। मै सोचता था—वर्तमान परिस्थिति मे मोरियो के मच्छरो को मारना अधिक लाभदायक है या 'साहित्य-कलरव' निकालना ?

उस गम्भीर प्रश्न पर मैने बहुत देर तक विचार किया और मेरे साहित्य-सेवी मित्र मुझे क्षमा करे, यदि मै उन्हे बतलाऊ कि मेरा फैसला 'साहित्य-कलरव' के खिलाफ रहा। इसके बाद मुझे तीन बार मलेरिया बुखार चार महीनो मे आया, और हर बार मै इस विषय पर विचार करता रहा हू कि आखिर हमारी साहित्य-सेवा का जीवन मे कुछ सम्बन्ध भी है ?

मैने पत्रो मे भारत-सरकार की रिपोर्ट पढी थी कि भारतवर्ष मे

६० लाख आदमी मलेरिया से वीमार पडते है और १३-१४ लाख इसीके कारण काल-कवलित हो जाते है। क्या ही अच्छा हो, यदि हम निरर्थक कवि-सम्मेलनो को वन्द करके साधारण जनता मे कुनैन वाटे।

ऊपर की वात हमारे कवि-वन्धुओ को—खास तौर पर दगली कवियो को—भले ही कुनैन की तरह कडवी लगे, पर अव वक्त आ गया है, जव मीठी-मीठी वाते कहने के वजाय स्पष्टवादिता से काम लिया जाय। हम लोगो को—लेखको और कवियो को—कीर्त्ति का नशा रहता है और इस नशे का मुझे भी कुछ तजुर्वा है। पत्रो मे लेख छपते है, अपना नाम छापे मे छपा देखकर वडी खुशी होती है, और लेख लिखे जाते है, फिर छपते है और इस प्रकार लेखको को प्रसिद्धि मिल जाती है। यह कोई नही पूछता कि वास्तविक जीवन से उन लेखको का कुछ सम्वन्ध भी है ? जून सन १९१२ मे मेरा प्रथम लेख काशी के 'नवजीवन' में छपा था और उसका नाम था 'स्वावलम्वन'। यह अग्रेजी पुस्तक 'सेल्फ हेल्प' (Self-help) के आधार पर लिखा गया था। यदि लेखक के अनुसार मैंने अपना जीवन-क्रम वनाया होता तो आज मै अवश्य ही स्वावलम्वी होता। पर हम लेखक लोग, वकौल वावा तुलसीदास के "पर उपदेश कुशल वहुतेरे" है। अट्ठाईस वर्ष तक खुराफात लिखने के वाद भी जीवन-सवधी मेरा व्यावहारिक ज्ञान वहुत ही कम वढा और ऐन मौके पर आकर परीक्षा मे मै विलकुल फेल हो गया।

पूज्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के यहा जव मै तीसरी वार दौलतपुर की तीर्थ-यात्रा करने गया था, तवतक ग्राम-सगठन पर अपने पत्र में अनेक लेख छाप चुका था। द्विवेदीजी मुझे अपने वाग की ओर ले गये। मार्ग मे उन्होने कुछ प्रश्न किये, पर चौवेजी उनके विषय मे कोरमकोर थे। कई वृक्षो के नाम उन्होने पूछे, पर मै उन्हे पहचान भी न सका—न रीठे का पेड पहचान सका और न महुए का। वातचीत के सिलसिले में द्विवेदीजी ने पूछा, "अपने आगरा जिले को भलीभाति जानते हो ? अपने डिस्ट्रिक्ट वोर्ड की रिपोर्ट पढी है ?"

मै चुप था। क्या जवाब देता ? फिजी, केनिया, जजीबार, युगाण्डा, टायानिका इत्यादि के चक्कर मे जिन्दगी के वीस वर्ष वरबाद कर चुका था, पर न तो आगरे जिले का कभी भ्रमण किया था और न कभी आगरा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की रिपोर्ट ही पढी थी। कभी क्यो, आजतक नही पढी।

पूज्य द्विवेदीजी झुझला कर बोले, "आखिर वैठे-वैठे क्या किया करते हो ? कुछ पढते-लिखते भी हो ? न तुमने काश्तकारी कानून का अध्ययन किया है, न ग्रामीण पचायतो के बारे मे कुछ जानते हो। खेती और किसानो के रहन-सहन के बारे मे तुम्हारा ज्ञान होगा ही क्या ? सम्पादक योही बन वैठे हो !"

बडी शर्म आई। हिदी-पत्रकारो का इन विषयो पर कितना ज्ञान है, यह मै कह नही सकता। लेकिन अगर कही हिन्दी-पत्रकारो के लिए कोई विद्यालय खुले तो छात्र के रूप मे उसमे भर्ती होने की इच्छा जरूर है।

हिन्दी-जगत् मे इस समय इन दो विद्यालयो की सख्त जरूरत है। नये-नये कालेज हमारे यहा खुलते जाते है और उनमे वे ही पुराने विषय पढाये जाते है—ऐसे विषय, जिनका विद्यार्थी के भावी जीवन से कोई विशेष सम्बन्ध नही। पत्रकार प्रौढो के शिक्षक है, जनमत को वनाना-बिगाडना उनके हाथ में है और उनके द्वारा समाज की बडी भारी सेवा हो सकती है। अतएव यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रयाग, काशी, दिल्ली, पटना, आगरा और नागपुर विश्वविद्यालयो द्वारा इन विषयो की पढाई का प्रबन्ध किया जाय। बम्बई के 'टाटा-समाज-विज्ञान-विद्यालय' की तरह की सस्था उत्तर-भारत मे भी होनी चाहिए। जो ग्रन्थ वहा अग्रेजी मे पढाये जाते है, उनका हिंदी मे अनुवाद कराना चाहिए अथवा वैसे ही मौलिक ग्रथ लिखाये जाने चाहिए। दूरदर्शिता के खयाल से यह काम अत्यन्त आवश्यक है। अव जब कि भारत स्वाधीन हो गया है, स्थानीय प्रश्नो का महत्व अखिल भारतीय प्रश्नो के समान ही हो गया है। हमे देश के कोने-कोने मे छोटे-बडे नगरो तथा ग्रामो में समाज-सेवा के अनेक रचनात्मक कार्य प्रारभ करने चाहिए। उन कार्यो के लिए कार्यकर्ताओ को विशेष ट्रेनिग देने की जरूरत है।

उपर्युक्त प्रश्न पर तथा अन्य ऐसे ही सवालो पर विचार करने के लिए उन लेखको का, जिनकी रुचि मुख्यतया समाज-सेवा की ओर है, मिलना जरूरी है। यह काम कोई परोपकार का नही, बल्कि स्वार्थ का है। हम लोग अपने आसपास के मानव-जगत् से ही नही, पशु-पक्षी और वृक्ष-जगत् से भी बहुत कम परिचित है। बडी बेशर्मी के साथ मै आपके सामने अपने अज्ञान का एक उदाहरण और पेश करूगा। ओरछा-राज्य के रेवेन्यू-कमिश्नर के आगन मे उगे एक पौधे को देखकर मैने एक बार पूछा, "ठाकुर साहब, यह क्या वृक्ष है ?"

वे हसकर बोले, "चौबेजी, आप आलू भी नही पहचानते ?"

चौबेजी चालीस-पैंतालीस वर्ष से आलू खाते आ रहे थे, पर आलू का पौधा जिन्दगी मे पहली ही बार देखा था। बाद मे आलुओ की खेती पर इक्कीस रुपये व्यय करके कुल जमा एक रुपये पाच आने के आलू हमने उगाये थे और इस प्रकार नकद, १९ रुपया ११ आने का मुनाफा उल्टी दिशा मे उठाया था।

पक्षियो से परिचय की बात लीजिए कौआ, तोता, मोर, खुटक-मढैया, पिडकुलिया, गलगलिया, चील, मैना, कोयल, उल्लू इत्यादि पन्द्रह-बीस पक्षियो को छोडकर और किसी को मै नही पहचानता और सो भी इनकी शकल से परिचित हूं। इनके स्वभाव, रहन-सहन इत्यादि के विषय मे मेरा ज्ञान अत्यल्प है। चिडियो के प्रवास के बारे में मैंने पत्रो मे पढ रखा था, पर प्रवासी चिडियो को मैने तबतक पहचाना ही नही था, जबतक कि ओरछा-राज्य के सुन्दर सरोवरो पर उनके झुड-के-झुड उतरते हुए नही देखे। इनमे से सहस्रो साइबेरिया से उडकर भारतवर्ष को आती है और फिर वही वापस लौट जाती है। चिडियो के विषय मे कोई भी उत्तम पुस्तक हमारी भाषा मे नही है। बुलबुल भी मैने बहुत वर्षो बाद देखी और चडूल को आजतक नही देखा! मै चडूल को कोई बहुत ही भद्दा-भोडा पक्षी समझे हुए था। पर झासी के एक मित्र ने मुझे बतलाया कि एक-एक चडूल की कीमत सात-सात सौ, आठ-आठ सौ रुपये होती है।

"बाद मुद्दत के फसा है ये पुराना चण्डूल"—इस पद्य को पढकर मैंने अपने हृदय मे चण्डूल के प्रति जो भ्रमात्मक धारणा स्थापित कर ली थी, वह मुझे सहर्ष दूर कर देनी पडी।

और अब तो मैंने 'बुलबुल का आशियाना' भी देख लिया है। पर एक बेवकूफी मैंने की। बुलबुल के घोंसले को मैंने कौतूहलवश बहुत नजदीक से देखा और कई बार देखा। इस कारण उस लज्जाशील भयभीत बुलबुल ने वह आशियाना छोड ही दिया। तब मैंने उस पद्य का मतलब समझा—"बुलबुल ने आशियाना चमन से उठा लिया।" बाद मे पपीहा को भी मैंने देख लिया है।

चिडियो के स्वभाव का अध्ययन करना और उनके विषय मे ग्रथ लिखना कोई आसान काम नही है। यह कोई महात्माजी का जीवन-चरित नही है, जो कि इधर-उधर से कटिंग लेकर दस-बारह दिन मे तैयार कर दिया जाय। एक-एक चिडिया के लिए लेखक अपना जीवन खपा सकता है, पर हम लोग तो 'काता और ले दौडे' के सिद्धात के अनुयायी हैं। पुरानी लकीरो पर चलने मे ही हमे आनन्द आता है। शायर-सूर-सपूतो की तरह हिंदी-लेखक बिना लीक चलना कब सीखेंगे?

पशुओ के विषय मे भी हमारा ज्ञान बहुत कम है। नर-पशुओ की बात जाने दीजिए, उन्हे तो हम थोडा-बहुत जानते भी है और वे भेडियो की तरह हर मुल्क और मिल्लत मे पाये जाते है। मट्ठे बैल का मुहावरा मैंने बहुत सुन रखा था, पर उनके दर्शन किये कुछ साल भर ही हुआ है। अपने बगीचे के लिए सत्तर रुपये खर्च करके एक जोडी बैल मऊरानीपुर से मगाये। जब वे पधारे तो भावुकतावश मैंने उनकी खूब आवभगत की। हमारे एक किसान-बन्धु ने कहा, "ये दूर से चलकर आये है, इसलिए थकावट दूर करने के लिए इन्हें कुछ खुराक मिलनी चाहिए।" अच्छा साहब, महुए की बनी हुई दो बोतल शराब के लिए [illegible] आने पैसे भी दिये गए। दो-तीन दिन उन्हे खूब आराम (जिसे साहित्य की भाषा में 'पूर्ण विश्राम' कहना चाहिए) करने दिया, फिर अपने आदमियों से कहा कि उनसे काम लो। यह देखकर मुझे

वडा आश्चर्य हुआ कि दोनो-के-दोनो बैल मेरी ही तरह आरामतलब निकले। लेट गये और उठने का नाम ही नही लेते! पूछ मरोडी गई, कुछ ठुक-विद्या भी हुई, अनेक उपाय किये गए, पर वे तो अपने सिद्धात के पक्के-घोर सत्याग्रही थे। तब लोगो ने मुझे समझाया, मट्ठे बैल इन्ही को कहते है। कहने की जरूरत नही कि यह शिक्षा मुझे बहुत महगी पडी। वडी मुश्किल से वे वदले गये और मेरी गाठ के २० रुपये खर्च करा के और मुझे बछिया का ताऊ सिद्ध करके वे चले गये। फिर भी चाय की भैस के मुकाबले मे यह सवक सस्ता रहा। नकद बयालीस रुपये मे मैंने एक भैस खरीदी जो वस चाय वनाने लायक दूध देती थी!

कही श्रोताओ को यह भ्रम न हो जाय कि मै ही हिन्दी-जगत् का 'मूर्ख-शिरोमणि' हू। यह वात बतला देना जरूरी समझता हू कि हमारे साहित्य-ससार मे कितने ही ऐसे व्यक्ति होगे, जो आसपास के पशु, पक्षी, वृक्ष तथा मानव-जगत् के विषय मे मुझसे भी अधिक 'लाल-वुझक्कड' है। हम लोग तो किसी प्रकार क्षमा भी किये जा सकते है, पर कितने ही लेखक ऐसे है, जिन्हे 'जरायमपेशा' कहना चाहिए।

सरकारी शराब-वन्दी तथा मादक-द्रव्य-निषेध सभाओ के तमाम व्याख्यानो के वावजूद हिंदी के ९५ फीसदी प्रकाशक भाग, गाजा या अफीम का अमल करते है या चरस की दम लगाते है। यह मेरा अटल विश्वास है। आप उनके यहा से प्रकाशित ग्रथो की सूची देख जाइये तो आपको फौरन पता लग जायगा कि इन प्रकाशको को समय की गति का कुछ भी खयाल नही है, जीवन के प्रश्नो से उनका कुछ भी परिचय नही है और उनमे से अधिकाश अपने को सर्वज्ञ समझे वैठे है। विलायत के अच्छे-अच्छे प्रकाशक अपने यहा भिन्न-भिन्न विपयो के विशेषज्ञ रखते है, जिनकी सम्मति से वे ग्रन्थ लेते और छपाते है, पर हमारे यहा के प्रकाशक मुफ्त मे भी विशेषज्ञो की सम्मति नही लेना चाहते। यदि प्रकाशको मे कुछ भी वुद्धि होती, तो वे स्वय आपस मे मिलकर इस वात की जाच के लिए एक कमेटी मुकर्रर करते कि साधारण जनता अथवा विशेष वर्गों के लिए किस-किस

प्रकार के साहित्य की जरूरत है।

श्रोता लोग पूछ सकते है, "आप कवियो से चूहे पकडवाना चाहते है, 'साहित्य-कलरव' बन्द करा के मोरी के मच्छरो पर धावा बोलना चाहते है, आखिर आप चाहते क्या है ? क्या कला और सौदर्य के प्रति आपके हृदय में कुछ भी प्रेम नही है ?" ऐसे प्रश्न-कर्ताओ की सेवा मे मै यह निवेदन कर देना चाहता हू कि मै कला तथा सौदर्य का उतना ही प्रेमी हू, जितना कि एक मामूली लेखक को होना चाहिए, पर हर चीज का एक वक्त होता है और युगधर्म के अनुसार कला और सौंदर्य का उपयोग विशेष उद्देश्यो को लेकर होना चाहिए। यदि आपके नगर के शौचालय अत्यन्त गन्दे है और उनमे हर साल हैजा फैलता है,तो आपके यहा की साहित्य-समिति पर जितना रुपया व्यय होता है, उसमे से कुछ अश इस गन्दगी को दूर करने के लिए खर्च होना चाहिए। आखिर वह हमारे हृदय तथा मस्तिष्क की भीतरी अस्वच्छता है, जो प्रकट रूप में हमारी गन्दी गलियो तथा सडको के रूप में सामने आती है। सुप्रसिद्ध नीग्रो लीडर बुकर टी वाशिंगटन ने कहा था, "किसी जाति की सभ्यता या असभ्यता का अन्दाज उसके पाखानो की सफाई या गन्दगी को देखकर लगाया जा सकता है।"

आयरलैड के सुप्रसिद्ध कवि तथा कलाकार जार्ज रसेल (ए ई) ने अपनी पुस्तक 'नेशनल बीइग' (राष्ट्र की आत्मा) मे एक बडे मार्के की बात लिखी थी, "सभी व्यक्तियो का यह कर्त्तव्य है, यह उनकी जिम्मेदारी है कि वे अपने अन्तर मे जिस सौंदर्य की कल्पना करते है, तदनुसार यथासभव अपनी बाह्य परिस्थिति को भी बनाये। सौंदर्य-प्रेमी आदमी कभी ऐसे घर में रहना पसन्द नही करेगा, जहा सब चीजे विकृत रुचि की परिचायक हो। बुद्धि-प्रधान मनुष्य अव्यवस्थित समाज से घृणा ही करेगा। हम यह निश्चय-पूर्वक कह सकते है कि बाह्य परिस्थितियो मे मनुष्यो के आन्तरिक जीवन का पता लग सकता है। आयरलैंड के वे गन्दे ग्राम तथा छोटे नगर, जहा शराब की दूकानो की भरमार है, जहा स्वच्छता तथा सुन्दरता की सर्वथा उपेक्षा की जाती है, दरअसल उनके निवासियो के चरित्र के अनुरूप ही है, उनके गन्दे

रहन-सहन के प्रतीक है। जब इन निवासियो मे बौद्धिक जीवन का विकास होगा, तब ये चीजे बदलेगी, लेकिन इसके पूर्व भी उनमे आध्यात्मिक भावना का प्रवेश होना चाहिए। ज्यो-ज्यो व्यक्तियो के चरित्रो मे परिवर्तन आता जाता है, त्यो-त्यो घर-घर और ग्राम-ग्राम मे सस्कृति तथा सभ्यता का रूप भी बदलता जाता है। जब हम राष्ट्र की आत्मा मे एक उच्च जगत् का निर्माण करना प्रारभ कर देते है तब हमारे देश का बाह्य रूप भी सुन्दर तथा सम्मानयोग्य बन जाता है। कोरमकोर कर्मशील पुरुषो की अपेक्षा हमे इस समय ऐसे विद्वानो की—अर्थशास्त्रियो, वैज्ञानिको, विचारको, शिक्षा-विशेषज्ञो तथा साहित्य-सेवियो की—अधिक आवश्यकता है, जो जातीय ज्ञान के क्षेत्र को, जो इस समय गभीर रेगिस्तान के समान है, विचारो की धारा से सीच कर उर्वर बना दे।"

कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इसी युग-धर्म के तकाजे को अपनी पुस्तिका 'नगर और ग्राम' (City and Village) मे बडी खूबी के साथ बतलाया है। उन्होने लिखा है—

"हमारा उद्देश्य यह है कि ग्राम-जीवन की नदी की तह मे, जो झाड-झखाडो और कूडे-करकट से भर गई है, और जिसमे प्रवाह नही रहा, आनन्द की लहर की बाढ ला दे। इस कार्य के लिए विद्वानो, कवियो, गायको तथा कलाकारो के सम्मिलित प्रयत्न की आवश्यकता है। ये सब मिलकर अपनी-अपनी भेट (शुष्क ग्राम-जीवन को सरस बनाने के लिए) लायगे। यदि ये लोग ऐसा नही करते तो समझना चाहिए कि ये जोक की तरह है, जो ग्रामवासियो का जीवन-रस चूस रहे है और उसके बदले मे उन्हे कुछ भी नही दे रहे। इस प्रकार का शोषण जीवन-रूपी भूमि की उर्वरा-शक्ति को नष्ट कर देता है। इस भूमि को बराबर जीवन-रस मिलता ही रहना चाहिए, और उसका तरीका आदान-प्रदान ही है। जो उससे कुछ ले, वह उसे किसी रूप मे वापस दे और इस प्रकार दान-प्रतिदान का चक्र बराबर चलता रहे।"

कवीन्द्र ने इन थोडे-से शब्दो मे लेखको, कवियो, गायको और कला-

कारो के लिए एक महान् सन्देश दे दिया है। कवीन्द्र कोरमकोर कल्पना-शील व्यक्ति ही नही थे। उन्होने जीवन को पूर्ण रूप मे देखा था और मानव-समाज के सर्वांगीण विकास के लिए उनका आदर्श, जिसे कार्यरूप मे परिणत करने के लिए उन्होने शान्तिनिकेतन, विश्व-भारती और श्रीनिकेतन की स्थापना की थी, हिन्दी-जनता के लिए अनुकरणीय है। उनका श्रीनिकेतन शान्तिनिकेतन का पूरक है। वे जीवन को शुष्क नही बनाना चाहते थे। उनके वर्षोत्सव, शरदोत्सव और वसन्तोत्सव को जिन्होने देखा है, वे कह सकते है कि कवीन्द्र जीवन को एकागी बनाने के सख्त विरोधी थे। क्या ही अच्छा होता, यदि हिन्दी लेखको, कवियो, गायनाचार्यो और विद्वानो का कोई शिष्टमण्डल शान्तिनिकेतन तथा श्रीनिकेतन की यात्रा इस उद्देश्य से करता कि हम वहा की विशेषताओ का अध्ययन करके उन्हे हिन्दी-भाषा-भाषियो की सस्थाओ मे लायगे। कवीन्द्र रवीन्द्र वस्तुत महान् कर्मयोगी भी थे।

यदि कवि के मानी है द्रष्टा, जो बहुत दूर की देख सके, जो कल्पना के आकाश मे विचरण कर सके, यही नही, जो अपनी कल्पना को मूर्त रूप देने के लिए निरन्तर प्रयत्न करता हो और जिसका व्यक्तित्व उसके प्रत्येक वाक्य एव प्रत्येक शब्द के पीछे बोलता हो, तो यह कहना पड़ेगा कि महात्मा गाधी इस युग के सबसे महान कवि थे। कोरमकोर छन्दबद्ध पद्य लिखने वाले जीव कवि नही। किसी महान लेखक ने कहा था—"कोरमकोर विचार बिना कार्य के वैसा ही है, जैसा गर्भपात।" और हमे अपने साहित्य-क्षेत्र को उस पाप से—शक्ति के इस अपव्यय से—बचाना है।

लेखक का काम खास तौर पर दुभाषिये का है। वह प्रकृति का दुभाषिया मानव-समाज के लिए है और स्वय मानव-समाज के एक भाग का दूसरे भाग के लिए। विश्व मे तथा मानव-जगत् मे इस समय जो इतना कलह मचा हुआ है, उसका एक कारण यह भी है कि ससार मे उपयुक्त दुभाषियो की कमी है। इसके सिवाय अन्याय तथा अत्याचार के विरुद्ध सग्राम करने के लिए कटिबद्ध रहना भी लेखक का ही कर्तव्य है। यह जमाना विचार-जगत् मे विचरने का नही है, यह है अपने विचारो को कार्यरूप मे

परिणत करने का युग । किसी ने रोम्या रोला से पूछा था, "आप नवयुवको के लिए क्या सन्देश देगे ?"

उन्होने उत्तर दिया, "नवयुवको को मेरा सन्देश एक वाक्य में आता है—विचारो से कार्य को अलग मत करो । कार्य दो प्रकार के होते है एक तो निकट का, अभी हाल का और दूसरा दूर का, यानी भविष्य का। ऐसा न होना चाहिए कि दूर के कार्य के कारण हम वर्तमान कर्तव्य की उपेक्षा करे अथवा वर्तमान कार्य हमारी दृष्टि को सकुचित कर दे और विचारों का क्षितिज हमारी आखो से ओझल ही हो जाय । जो 'बुद्धि-जीवी' वास्तव मे सच्चा और सजीव है,वह उपर्युक्त दोनो कर्तव्यो को साथ-साथ निबाहेगा, वह एक के लिए दूसरे का परित्याग न करेगा । जो विचारक है, वह अपने विचारो द्वारा भिन्न-भिन्न कार्यो की धारा को प्रभावित करने का प्रयत्न करेगा । जो विचार क्रियाशील नही है, वह विचार दरअसल विचार ही नही है, वह तो कोई स्थिर चीज है—मुर्दा है, । आजकल हमारे समाज के विशेष व्यक्ति जिस सौन्दर्य-उपासना का ढोग रचते है और 'विचारो का उद्देश्य विचार' बतलाते हुए कार्य-क्षेत्र से भागते है, वह सौन्दर्योपासना वास्तव में बाझ है और वह पतन के गड्ढे के किनारे पर ही है । उसमे मुर्दे की सड़ाद आने लगी है । जो क्रियाशील है, वही जीवित है ।"

रोम्या रोला का कथन वस्तुत सोलहो आने ठीक है । हमारे जो लेखक अथवा कवि केवल अपने मन-मन्दिर मे प्रगतिशील बनने का अभिमान करते है, पर जिनके जीवन के रहन-सहन तथा नित्यप्रति के कार्यो मे वही पुरानी प्रतिक्रियात्मक पद्धति विराजमान है, वे साधारण जनता को कभी स्फूर्ति दे सकेगे, इसकी कोई सम्भावना नही । जिनका हम उद्धार करना चाहते हैं, उनके बीच मे जाने से झिझकते है, इससे अधिक विडम्बना की बात क्या हो सकती है ?

एक वाक्य मे यो कहिये, हम साहित्य को अपने चारो ओर के जीवन के सम्पर्क मे लाना चाहते है । चारो ओर से हमारा अभिप्राय केवल अपने ग्राम, नगर या मडल अथवा जिले का ही नही है । ससार की प्रगति से जो अपरिचित

हैं, जगत् की घटनाए जिसे प्रभावित नही करती, उनके प्रति जो सवेदनशील नही है, वह दरअसल लेखक या कवि नही। वास्तव मे हमे आवश्यकता है ऐसे सैकडो लेखको तथा कवियो की, जिनका मस्तिष्क भले ही आकाश मे हो, पर जिनके पैर ठोस जमीन पर हो, जिनका दृष्टिकोण अखिल भारतीय ही नही, वल्कि अखिल मानवीय भी हो, पर जो एक परिमित क्षेत्र में अपनी सारी शक्तियो को केन्द्रित करके आसपास की जनता के लिए ज्ञान तथा संस्कृति के प्रकाशपुज या 'डाइनेमो' वन जाय।

साहित्यिक क्या करें ? हमारे पास इस प्रश्न का केवल एक ही उत्तर है— "जैसा जिसकी अन्तरात्मा कहे, वह वैसा करे।" यह अपनी-अपनी योग्यता, रुचि, सामर्थ्य और परिस्थिति पर निर्भर है। पर पूर्णतया सजीव साहित्यिक हम उसीको मानेगे, जिसकी आत्मा किसी वन्धन मे नही है, जिसकी कलम को कोई सरकार या सस्था कदापि नही खरीद सकती, अपनी अन्तरात्मा का आदेश ही जिसके लिए सर्वोपरि है और जो तमाम खतरो में पडकर भी तदनसार कार्य करता है। हमे श्रम-विभाजन की नीति से और पात्र-भेद का खयाल करते हुए काम करना चाहिए। वास्तव मे हिन्दी के लेखको, कवियो और कलाकारो की जिम्मेदारी इस भारत-भूमि मे सवसे अधिक भारी है।

आयरलैण्ड के अमर कलाकार और कर्मयोगी ए ई के शब्दो को एक वार हम फिर उद्धृत करते है, "अर्थशास्त्री हमे दैनिक रोटी दे सकते हैं; पर भावी दिनो के लिए जिस भोजन की जरूरत प्रभु ईसा ने वतलाई थी, उसका प्रवन्ध तो कोई दूसरे ही करेगे। वह कार्य है कवियो का, कलाकारो का, गायको का और उन वीरतापूर्ण तथा उदारचरित महान् व्यक्तियो का, जिनका जीवन नमूने के तौर पर जनता के सामने पेश किया जा सके। वे लोग ही उन आदर्शो को जन्म दे सकते है, जिनसे हमारा समाज प्रभावित तथा शासित होगा। कलाकारो का कर्तव्य है कि वे वाछनीय जीवन की कल्पित मूर्ति हमारे सामने उपस्थित करें, आदर्श मानव-जगत् की झलक हमको दिखलावें और राष्ट्र की आत्मा का चित्र हमारे सामने खीचकर रख

दे। आयरलैण्ड की विफलता की जिम्मेदारी है हमारे उन कवियो पर, जो अपनी दैवी श्रेणी से बिलकुल विछुड गये और जो अपनी-अपनी ढपली पर अलग-अलग अपना-अपना राग छेडते रहे, और साथ ही उस विफलता की जिम्मेदारी उन लेखको पर भी है, जिन्होने मानव-स्वभाव के महत्व पर ध्यान देने के वजाय उसकी क्षुद्रताओ का ही वर्णन करना उचित समझा।"

क्या उपर्युक्त क्तियो मे हमारे लिए कोई सदेश नही है ? हिन्दी भाषा-भाषी ग्रामो की सख्या चार लाख से कम न होगी। अव वक्त आ गया है कि हिन्दी के लेखक और कवि, गायक और कलाकार आपस मे मिलकर इस प्रश्न पर विचार करे कि चार लाख हिन्दी-भाषा-भाषी ग्रामो मे, जहा जीवन-सरिता की तह (वकौल कवीन्द्र) झाड-झखाड और कूडे-करकट से भर गई है, किस प्रकार आनन्द और उल्लास की लहर लाई जा सकती है ? ओह ! कितना महान् कार्य और कितना उच्च लक्ष्य है हमारे सामने !

२ :

# कस्मै देवाय ?

हमारा देश इस समय एक वडे मकट मे से गुजर रहा है। प्राचीन युग वीत गया है और नवीन युग का अभी पूर्ण रूप से प्रादुर्भाव नही हो पाया। उपाकाल के पहले जैसा अन्धकार रहता है, वस वैसी ही स्थिति इस समय हमारे देश की है। ऐसी परिस्थिति मे हम सवका—खास तौर से लेखको और कवियो का, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जनसाधारण के शिक्षक, रहनुमा और ज्ञानदाता है—कर्तव्य है कि जमकर और डटकर खडे हो जाय और यह निश्चय कर ले कि हमे किस मार्ग पर जाना है ?

अव समय आ गया है, जव इस वात का फैसला हो जाना चाहिए कि आखिर हम किसके लिए साहित्य उत्पन्न करना चाहते है ?

सेठजी दिन-भर सट्टेवाजी करके रात को दस वजे भरी हुई जेव और खाली दिमाग लेकर, घर लौटते है। अवश्य ही उनकी मोटी अकल और कम-जोर स्नायुओ के लिए किसी हलकी चीज की जरूरत है।

क्या हम ऐसे सेठो के लिए गन्दा साहित्य उत्पन्न करेगे ?

वकील साहव मुवक्किलो को दिन-रात ठगा करते है। उनका हाज़मा—मानसिक और शारीरिक दोनो तरह का—इतना खराव है कि वे किसी पुष्टिकर चीज को हजम ही नही कर सकते। मुवक्किलो को लडा-भिडा कर इतने रुपये इकट्ठा करना, जिससे उनके लडके और नाती-पोते ऐशो-आराम की जिन्दगी वसर कर सके और उनकी असतुष्ट पत्नी के पास वहुत से मोटे-मोटे कीमती गहने हो सके—यही वकील साहव के जीवन का लक्ष्य है। मुवक्किल का मुर्दा वहिश्त मे जाय या दोज़ख में, उन्हे अपने

हलुवे-माडे से मतलब। हा,

"मुवक्किल छुटे उनके ंजे से जब,
कमाई की चिन्ता जरा कुछ घटी,
तो साहित्य के वास्ते दिल चला,
कहानी उन्हे चाहिए चटपटी।"

क्या इन मन्दाग्नि-पीडित वकील साहब के लिए साहित्यिक चाट बनाना हमारे जीवन का उद्देश्य है ?

आटे मे लकडी का बुरादा और घी मे घासलेटी घी मिलाने का व्यवसाय छोडकर —जो कार्य उनकी योग्यता और सस्कारो के सर्वथा अनुरूप था— वर्माजी या शर्माजी ने किताबो की दूकान कर ली है, और ढाई रुपये फार्म पर 'ग्रन्थ' लिखाना चाहते है। हल्की कहानियो की आजकल वाजार मे खूब माग है। उनकी बिक्री से काफी रुपया कमाया जा सकता है।

क्या वर्माजी या शर्माजी के हाथो अपनी आत्मा वेचकर उन्हे लखपती बनाना हमारी जिन्दगी का लक्ष्य हो सकता है ?

क्या हम किसी अर्द्ध-शिक्षित अमीर के नाम से किताब लिखकर, या निरुद्देश्य नरेशो को पुस्तक समर्पित करके, अथवा रीडरबाजी या तिकडम-वाजी द्वारा धनवान बनना चाहते है ?

यदि हा, तो हमारा मार्ग साफ खुला हुआ है, और साथ ही हमारे पतन का मार्ग भी। हम उसपर सरपट भागकर शीघ्र ही कोठिया वनवा सकते है और उसके साथ अपनी कीर्ति का मकवरा भी।

सामने देखिये, वे लाला अवधविहारी लाल वी० ए० के एक विद्यार्थी चले आ रहे है, जिनकी वैठी हुई आखो और कमजोर कोमल हाथो तथा डगमगाती चाल-ढाल से साफ मालूम होता है कि इन्होने कभी शारीरिक श्रम नही किया। रटाई ('स्टडी!') करने के बाद उनके लिए कुछ तफरीह का सामान भी चाहिए। उनके पिताजी उन्हे नायव तहसीलदारी मे नामजद कराने की कोशिश कर रहे है, और वी० ए० पास हो जाने के बाद उन्हे पूरी उम्मीद है कि वे नायब तहसीलदार साहब बन जायगे। हा, तो इन भावी

नायब तहसीलदार साहब के दिल-बहलाव के लिए कुछ हलका साहित्य चाहिए । और हमारे यहा ऐसे लेखक बहुत से पाये जाते है, जो लाला अवधविहारी लाल के लिए साहित्य उत्पन्न करने को लालायित है ।

पर जिन लेखको तथा कवियो मे जीवन है, यौवन है और कार्य करने की अदम्य इच्छा है, और साथ ही जो अपने सामने कुछ उच्च आदर्श भी रखना चाहते है वे उस पतन के ढलवा मार्ग पर जाना हर्गिज पसन्द न करेगे । तो आखिर यह लोग किसके लिए साहित्य उत्पन्न करे ?

इस प्रश्न का उत्तर ढाई हजार वर्ष पूर्व, सारनाथ में, दुनिया के सबसे बडे मिशनरी भगवान् गौतम बुद्ध ने दे दिया था, जब उन्होने अपने शिष्यो से कहा था—

"चरथ भिक्खवे चारिक बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय लोकानुकम्पाय अत्याय हिताय सुखाय देवमनुस्सान ।"

अर्थात्—"हे भिक्षुओ, बहुजनो के हित के लिए, बहुजनो के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओ और मनुष्यो के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो ।"

अर्थात्—साधारण जनता यानी अधिक-से-अधिक लोगो के हित को, सुख को और कल्याण को ही अपना लक्ष्य बनाकर हमारे साहित्य की रचना होनी चाहिए ।

रामलाल (उर्फ रमल्ला) एक किसान है । जात का चमार है । जिस खेत को उसने और उसके भाई-बन्दो ने वर्षो से जोता-बोया था, उसे जमीदार साहब ने बेदखली कराकर छीन लिया है । रमल्ला को साल-भर से मन्द ज्वर आता है । डाक्टर साहब कहते है कि वह तपेदिक की पहली स्टेज मे है । उसका शरीर गलता जाता है और जीवन-आशा क्षीण होती जाती है , पर अब भी उसे पेट भरने के लिए दूसरो के खेत पर मजदूरी करनी पडती है ।

यदि आप लेखक है, कवि है तो रमल्ला के कष्टो और दु खो की गाथा को जनता के सामने लाइये और इस प्रकार अपनी लेखनी को पवित्र कीजिये ।

चेता कहार है । अमुक सेठजी की मिल मे आठ-दस आने रोज पर काम

करता है । उसे कुली-लाइन में कबूतरखाने जैसे कमरे में रहना पडता है, जहा डेढ सौ कुलियो पीछे पानी का सिसक-सिसक कर रोने वाला एक नल है।

जिस समय सेठजी धारासभा मे बैठकर देशभक्ति के नारे बुलन्द करते है, उस वक्त बेचारा चेता इस बात की चिन्ता करता है कि उसके बीमार लडके के लिए दवाई के दाम कहा से आयेगे। सेठजी मिल के शेयरो के भारी डिवीडेण्ड खाते है, और चेता गालिया । सेठजी को मन्दाग्नि है और चेता को भर-पेट भोजन नही मिलता । दोनो सूखते जाते है—एक करोडपति बनने की चिन्ता मे और दूसरा पेट भरने की फिक्र मे ।

आप इन दोनो मे से किसकी सेवा करना चाहते है ? क्या इस प्रश्न के भी दो उत्तर हो सकते है ?

धनगोपाल एक निर्धन कम्पोजीटर है । पत्र के स्वामी उसे सवेरे दस बजे से लेकर रात के आठ बजे तक दस घटे रगडते है । जब वह बेचारा साढे आठ बजे रात को हारा-थका घर पहुचता है, (वह घर है या घोसला, जिसे उसने दो रुपये महीने पर ले रखा है ?) तो न तो उसमे इतनी दम रहती है कि वह अपने बच्चो को प्यार कर सके और न इतनी इच्छा रहती है कि पत्नी से दो मीठी बाते कह सके । रूखा-सूखा खाना खाकर वह पड रहता है और दस-बारह वर्ष इस प्रकार का जीवन बिताकर उस धाम को चला जाता है, 'जहा की खबर नही आती ।'

क्या कभी आपने स्वप्न मे भी खयाल किया है कि आपके घसीटकर लिखे गये अक्षरो को किसने कम्पोज किया था ? किसने आपके लेख के तीन-तीन प्रूफो का सशोधन करते समय अपनी आखो की दृष्टि मन्द कर ली थी ?

क्या इन श्रमजीवियो के, इन मजदूरो के साथ आपने अपनी एकात्मकता का कभी अनुभव किया है ?

पाठक कह सकते है कि इस प्रकार की भावुकतापूर्ण बाते बहुत सुनी है।

बदौलत आबाद है, ताल्लुकेदारो की बदौलत नही। किसान ही उसके आधार-स्तम्भ है। उन्हीकी कृपा से ताल्लुकेदारो की ताल्लुकेदारी है। और उन्ही की कृपा से सरकार की जहादारी। उन्हे खोखला कर दीजिए, उन्हे और भी निर्बल कर दीजिये, उन्हे और भी पीस डालिये, फिर कही कुछ न रह जायगा। ताल्लुकेदारी और जहादारी दोनो ही नामनिशेष हो जायगी। जो लोग गाय-भैस पालते है, वे जब उन्हे यथेष्ट दाना-चारा देते है और उनकी सेवा भी करते है, तभी उन्हे उनसे दूध मिलता है और बहुत दिन तक मिलता जाता है। ताल्लुकेदार इस बात को न भूले। किसानो को गाय-भैस से भी वदतर न समझे। उनके पेट का दाना हर लेने और उन्हे बुरी तरह अपनी मुट्ठी मे रखने की चेष्टा न करे। किसानो को सुखी रखने ही से वे सुखी रह सकेगे। नजराना, वेगार, चारा-घास, इजाफा और बेदखली का दौरदौरा बहुत हो चुका। अब तो दया करे। किसानो को भी अपने हक हासिल करने दे। प्रकारान्तर से उन्हे गुलाम वना रखने का समय गया।

"जिन किसानो की दुरवस्था की सीमा न थी, वही किसान अव रूस के राज्य-सचालक वन गये है। जो किसान अवध मे पशुवत् समझे जाते है, वही किसान खुद सरकार के स्वदेश मे महासभा (पार्लमिट) के आधार हो रहे है। अमेरिका और जापान मे किसानो का क्या दरजा है, यह क्या पढे-लिखे ताल्लुकेदार नही जानते ? ताल्लुकेदार अपने समुदाय को देखे और किसानो के भी समुदाय को। पद्दलित जनसमुदाय सदा उसी स्थिति मे नही रहता। अपने जन्मसिद्ध अधिकारो का ज्ञान होने पर वह भी कभी उठता है, और जव उठता है, तव फिर किसकी शक्ति है, जो उसके उत्थान मे बाधा डाल सके।"

पीछे छोडिये उन डरपोक साहित्य-सेवियो और समालोचको को, जो यह जानते हुए भी कि अमुक महानुभाव बिलकुल ऊटपटाग ऊल-जलूल वकते है—जिनके लेख विक्षिप्त के बर्राने और पागल के प्रलाप से कम नही है—उनका विरोध करने की हिम्मत नही रखते।

हमे कुछ गरज नही है उन पद्य-लेखको से, जो साधारण जनता से कोसो

प्रिन्स क्रोपाटकिन ने एक जगह लिखा है—

"अगर तुम्हे अपने भीतर जवानी की ताकत महसूस होती है, अगर तुम जीते रहना चाहते हो, अगर तुम निर्दोष सर्वागपूर्ण और उभरती हुई जिन्दगी का आनन्द लेना चाहते हो—यानी, अगर तुम उन सर्वोच्च आनन्दो को जानना चाहते हो, जिनकी कोई भी जीवित प्राणी आकाक्षा कर सकता है—तो मजबूत वनो, महान वनो और जो-कुछ भी तुम करो, उसमे दृढता से काम लो।

"अपने चारो तरफ जीवन के वीज वोओ। खबरदार! अगर तुम धोखा दोगे, झूठ वोलोगे, षड्यत्र रचोगे, चरका दोगे तो तुम उससे खुद अपने-आपको पतित करोगे, अपने-आपको छोटा वनाओगे, पहले से अपनी कमजोरिया कवूल करोगे और तुम्हारी हालत जनानखाने के उस गुलाम की तरह होगी, जो हमेशा अपने को अपने मालिक से छोटा समझता है। अगर तुम्हे यही वाते भाती है, तो इन्ही को करो, लेकिन उस हालत मे लोग तुम्हे नाचीज, घृणास्पद और कमजोर समझेगे और तुम्हारे साथ वैसा ही वर्ताव करेगे। तुम्हारी ताकत का कोई सवूत न होने के मानी यह होगे कि जनता तुम्हे करुणा का पात्र समझेगी—केवल करुणा का पात्र, वस!

"जव तुम खुद अपने-आप अपनी शक्तियो को पगु वनाते हो तो दुनिया को दोप मत दो। इसके खिलाफ अपने को शक्तिशाली वनाओ और अगर कही तुम्हे कोई अन्याय दिखाई दे और तुम उसे अन्याय या अधर्म मानते हो—चाहे वह जीवन का कोई अन्याय हो विज्ञान का कोई झूठ हो, या किसी पर किसी का किया हुआ जुल्म हो तो तुम उस अन्याय, उस झूठ या उस जुल्म के खिलाफ उठकर वगावत कर दो।

"सघर्ष करो, ताकि सारी दुनिया सुखी और उभरता हुआ भरापूरा जीवन विता सके। विश्वास रखो कि इस सघर्ष मे तुम्हे वह आनन्द मिलेगा, जो और कोई चीज नही दे सकती।"

हम युवको को ऐसा सजीव साहित्य उत्पन्न करना है जो जनसाधारण मे जान फूक सके, पर उसके पहले हमे स्वय अपने जीवन को सर्वथा

निर्भय, निश्शंक और सत्यप्रिय बनाना पड़ेगा।

इस लेख के शीर्षक पर प्रश्न किया गया था 'कस्मै देवाय ?' हम किसके लिए साहित्य उत्पन्न करें ? उसका उत्तर है 'जनता-जनार्दन के लिए।' उस जनताजनार्दन को—किसान-मजदूरों को, जो भारत की आबादी के ८० फीसदी हैं—हम शत बार नतमस्तक हो प्रणाम करते हैं। वह हमारे आराध्य हैं, वही पूज्य।

: ३ :

# साहित्य-सेवियों के आदर्श

हिन्दी-साहित्य-सेवियो की सख्या दिनोदिन वढती जाती है। इनमे कुछ लोग तो ऐसे है, जो जन्मत या स्वभावत साहित्य-सेवी है, जिनके जीवन का लक्ष्य ही शुद्ध साहित्य-सेवा है, जो न दूसरा काम कर सकते है और न करने की इच्छा ही रखते है। इन्हे हम असली साहित्य-सेवी कह सकते है। दूसरे प्रकार के लोग वे है, जो आर्थिक कारणो से लाचार होकर इस क्षेत्र मे आ गये है, पर जिनके जीवन का आदर्श दूसरी ओर ही है। पापी पेट भरने के लिए जिन्हे, इन पक्तियो के लेखक की तरह, यह कार्य करना पडता है और जो साहित्य-सेवा को अपने लक्ष्य का एक अस्थायी साधनमात्र समझते है। ये फसली साहित्य-सेवी कहे जा सकते है। तीसरे प्रकार के साहित्य-सेवी वे है, जिनका उद्देश्य केवल पया कमाना है, और वे साहित्य की दूकानदारी उसी प्रकार करते है, जिस प्रकार उन्हीकी-सी मानसिक प्रवृत्ति वाले उनके साथी नोन, तेल, लकडी तथा आटे-दाल की दूकान करते है। उन्हे इस वात की चिन्ता नही है कि जो चीजे वे जनता को दे रहे है, वे सात्त्विक है या तामसिक, उन्हे अपने रुपये से काम है। उन्हे इस वात की विलकुल परवा नही कि उनके साहित्य का जनता के चित्त पर क्या प्रभाव पडता है।

भारतीय जनता अशिक्षित है, और खास तौर से हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तो मे तो शिक्षा की वहुत ही कमी है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि साधारण जनता धोखे मे पडकर असली और नकली मे भेद न कर सके। इसके सिवा हमारे यहा निर्भीक समालोचको के प्राय अभाव के कारण भले-वुरे की पहचान और भी कठिन हो गई है। आवश्यकता इस वात की है कि वे लोग जो साहित्य-जगत् मे अपनी मातृभाषा के मस्तक को उच्च रखना चाहते

है, विचारपूर्वक हिन्दी-साहित्य-सेवियो के लिए आदर्श का निर्माण करे।

यह समय हिन्दी-साहित्य के लिए वास्तव में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ग्रामनिवासियो के हृदय मे पढने की इच्छा उत्पन्न होने लगी है। लडकियो तथा स्त्रियो मे भी पढने की प्रवृत्ति बढ रही है। राजनैतिक दृष्टि से भी हिन्दी का महत्त्व अब दिनोदिन वढने ही वाला है। भारत की राजधानी दिल्ली के हिन्दी-भाषा-भाषी प्रदेशो के बीच मे स्थित होने के कारण हिन्दी का महत्त्व और भी वढ गया है। वैसे हिन्दी प्रान्तीय भाषाओ की वडी बहन है भी। जिस प्रकार भले कुटुम्ब मे वडे-बूढो को यह खयाल करके भी अपने आचार-विचार ठीक रखने पडते है कि छोटो पर उनका ठीक प्रभाव ही पडे, उसी प्रकार राष्ट्र-भाषा होने से हिन्दी की जिम्मेदारी भी वढ गई है। अव वह समय आ पहुचा है, जब हिन्दी-साहित्य-सेवियो को अपने साहित्य की पवित्रता तथा उच्चता के लिए भरपूर प्रयत्न करना चाहिए।

स्वर्गीय गणेशशकर विद्यार्थी ने कहा था, "हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य का भविष्य बहुत वडा है। उसके गर्भ मे निहित भवितव्यताए इस देश और उसकी भाषा द्वारा ससार-भर के रगमच पर एक विशेष अभिनय करानेवाली है। मुझे तो ऐसा भासित होता है कि ससार की कोई भी भाषा मनुष्य-जाति को ऊचा उठाने, मनुष्य को यथार्थ मे मनुष्य बनाने और ससार को सुसभ्य तथा सद्भावनाओ से युक्त बनाने मे उतनी सफल नही हुई, जितनी कि आगे चलकर हिन्दी-भाषा होने वाली है।

"हमारा कर्तव्य है कि अपनी मातृभाषा तथा राष्ट्र-भाषा के इस उज्ज्वल भविष्य मे विश्वास रखे और तदनुरूप अपने चरित्र तथा साहित्य का निर्माण करे।"

साहित्य-सेवी ही साहित्य को उन्नत अथवा अवनत कर सकते है और जनता के चरित्र का निर्माण या नाश कर सकते है। इस समय हमारा साहित्य व्यापक अवश्य बन रहा है, पर उसमे अभी गम्भीरता या गहराई की बहुत कमी है। लोग यह समझ गये है कि साहित्य मे रुपया है, इसलिए कितने ही नकली साहित्य-सेवी भी इस मैदान मे आ डटे है। उनके पास

पूजी है और उनका विश्वास है कि रुपये से वे चाहे जिस लेखक को खरीद सकते है। अभी हम लोगो ने उस खतरे का पूर्णरूप से अनुभव नही किया है, जो भविष्य में पूजीपतियो से लेखको तथा पत्रकारो को होनेवाला है।

इन सब बातो पर ध्यान रखकर हम इस परिणाम पर पहुचते है कि यदि हिन्दी-साहित्य-सेवी समय रहते सावधान न हुए तो वे कही के न रहेगे। विदेशी भाषाओ की बात छोड दीजिए। उनके यहा अत्युत्तम साहित्य का निर्माण हो चुका है, जिसका मुकाबला करते-करते हमे पचास-साठ वर्ष से भी ज्यादा लग जावेगे। यदि उनके यहा कोई चरित्रहीन लेखक उत्पन्न हो जाय तो वह साहित्य की विशेष हानि नही कर सकता, पर हमारे यहा तो उससे भयकर हानि हो सकती है। हिन्दी-साहित्य-सेवी चलते-चलते अब ऐसे स्थान पर आ गये है, जहा से सडक दो ओर को जाती है। या तो वे अपने आदर्श को पाश्चात्य लेखको के अनुरूप बना सकते है—और प्रवृत्ति कुछ उधर की ओर ही विशेष रूप से पाई जाती है—अथवा वे प्राचीन प्राच्य आदर्शो को दृढतापूर्वक अपना सकते है। हमने सुना है कि अनेक पाश्चात्य लेखक और पत्रकार रहने के लिए सुन्दर बगला और चढने के लिए अपनी मोटर जीवन की नितान्त आवश्यक वस्तुओ मे समझते है, और इसके विपरीत भारतीय आदर्श आश्रम की झोपडी या कुटी का है। हमारे साहित्य-सेवी किस आदर्श को ग्रहण करेगे, इस प्रश्न पर हिन्दी-साहित्य का भविष्य निर्भर है। बगला या मोटर कोई बुरी चीज नही है, पर चूकि ये चीजे साधारण आदमियो को नही मिल सकती, इसलिए इनकी आकाक्षा करना साहित्य-सेवियो के लिए अनुचित ही होगा। भारत-जैसे निर्धन देश मे आदर्श साहित्य-सेवी के रहन-सहन का स्टैडर्ड साधारण जनसमुदाय के रहन-सहन से बहुत ऊचा न होना चाहिए। यहा साहित्य-सेवी तथा जनता के रहन-सहन के स्टैडर्ड का अन्तर जितना ही बढता जावेगा, साहित्य-सेवी की उपयोगिता उतनी ही घटती जावेगी। साहित्य-सेवी को अपने को उन अगरेज पादरियो की तरह न बना देना चाहिए, जो नगर से दूर बंगले मे रहते हुए झोपडी-निवासी गरीब जनता को प्रभु ईसामसीह का सन्देश सुनाना चाहते है।

प्रत्येक साहित्य की एक आत्मा हुआ करती है और हमे अपने साहित्य की आत्मा तुलसी और कबीर मे मिल सकती है। इनके मुकाबले के आदमी भारत की देशी भाषाओ मे तो क्या, ससार की भाषाओ के इतिहास मे भी मुश्किल से मिलेगे। यदि हिन्दी-साहित्य-सेवी अपने आदर्श का निर्माण इन दोनो महापुरुषो के जीवन-चरित को सामने रखकर करेगे तो निस्सन्देह उनकी जड मजबूत रहेगी। उसके आधार पर वे विशाल भवन खडा कर सकते है।

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात जो हमे ध्यान मे रखनी चाहिए, वह यह है कि आदमी के व्यक्तित्व को उसकी कृति से अलग करना भारतीय सस्कृति के सर्वथा विपरीत है। मनुष्य के चरित्र को 'प्राइवेट' तथा 'पब्लिक जीवन'—इन दो भागो मे बाटना भारतीय सिद्धान्तो के प्रतिकूल है। हम यह जानना चाहते है कि जो लेखक हमे अपनी पुस्तको मे नाना 'प्रकार के उपदेश देता है, वह स्वय अपने उपदेशो के अनुसार निजी जीवन व्यतीत करता है या नही? यदि कोई शराबी लेखक मादक द्रव्य-निवारण के पक्ष मे लेख लिखे तो जनता पर उसका क्या प्रभाव पडेगा?

दुर्भाग्य से हमारे यहा ऐसे साहित्य-सेवी भी पाये जाते है, जो कहते है कि साहित्य-सेवियो को विशेषाधिकार मिलना चाहिए और उनके चरित्र को साधारण आदमियो के चरित्र की कसौटी पर नही कसना चाहिए। ऐसा कहनेवाले लोग या तो भारतीय सस्कृति तथा साहित्य के उच्च आदर्श से सर्वथा अनभिज्ञ है, अथवा जान-बूझ कर उसकी हत्या करना चाहते है। वस्तुत साहित्य-सेवियो के चरित्र की जाच और भी अधिक कठोरता के साथ की जानी चाहिए,क्योकि मामूली आदमी अपने दुश्चरित्र से स्वय अपनी या निकट सम्बन्धियो की ही हानि करता है, पर साहित्य-सेवी तो सम्पूर्ण साहित्य-सरोवर मे जहर डालकर सहस्रो-लक्षो आदमियो की जिन्दगी बर्बाद कर सकते है। यह सम्भव नही है कि दुराचारी होते हुए भी हम शुद्ध साहित्य का निर्माण कर सके। कोई-न-कोई बात हमारी लेखनी से ऐसी निकल जायगी, जो हमारे असली स्वरूप को जनता के सम्मुख रख देगी

और भोले आदमियो को पाप-पक मे फंसा देगी। हम अपने असली मानसिक भावो को थोडे समय के लिए भले ही छिपा सके, पर अन्त मे वे प्रकट होकर ही रहेगे। सुप्रसिद्ध अमेरिकन दार्शनिक एमर्सन ने एक जगह लिखा है –

"आप किसी भेद को छिपा नही रख सकते। यदि कलाकार अपनी गिरती हुई तवीयत (स्पिरिट) को सहारा देने के लिए अफीम या शराव की शरण लेता है तो उसकी कृति मे अफीम और शराव के प्रभाव की विशेषता अवश्य मिलेगी।"

हम ऐसे लेखको को जानते है, साहित्याकाश मे जिनका उदय वडी शान के साथ हुआ, पर जिनकी आखो मे अपनी ही कीर्ति के उज्ज्वल प्रकाश से चकाचौध उत्पन्न हो गई और जिन्होने अपने जीवन मे भोग-विलास और असयम को स्थान दे दिया। परिणाम यह हुआ कि उनका पतन उतनी ही शीघ्रता से हुआ, जितनी शीघ्रता से उनका उदय हुआ था। सयम और सदाचार केवल दीर्घ-जीवन के लिए ही आवश्यक नही है, वल्कि साहित्य के जीवन मे चिरस्थायी कीर्ति प्राप्त करने के लिए इन दोनो चीजो की नितान्त आवश्यकता है।

ज्यो-ज्यो साधारण जनता मे शिक्षा का प्रचार होता जायगा त्यो-त्यो वह साहित्य-सेवियो के प्रति अधिकाधिक श्रद्धालु वनती जायगी। साहित्य-सेवियो का कर्त्तव्य है कि वे उस श्रद्धा के सुयोग्य पात्र वने। जनता अपने आदर्शो का निर्माण उन्हीके चरित्र को देखकर करेगी, और यदि वे ही चरित्रहीन हुए, तो सारे समाज के चरित्रहीन वनने की आशका है।

पाश्चात्य देशो के साहित्य-सेवियो के आदर्श क्या है, और वहा साहित्यिको के व्यक्तिगत जीवन का साधारण जनता पर क्या प्रभाव है, इसका हमे पता नही, पर भारतवर्ष मे तो व्यक्तिगत जीवन की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। स्व लोकमान्य तिलक, महामना मालवीयजी तथा महात्मा गाधी के प्रभाव के मूल मे उनके जीवन की पवित्रता का भाग कितना महत्वपूर्ण है, यह प्रश्न भी विचारणीय है। इस प्रसग मे महात्माजी के जीवन से सम्वन्ध रखने वाली एक वात याद आती है। जव रुपये इकट्ठे करने के लिए

वे वर्मा गये हुए थे तो किसी नाटक-मडली के अध्यक्ष ने उन्हे निमन्त्रित किया और दो हजार रुपये देने का वचन दिया। महात्माजी के सेक्रेटरी ने समझा कि यह नाटक उसी सात्विक ढग से खेला जायगा,जिस ढग से आन्ध्र देश के हिन्दी-प्रेमियो ने कवीर का नाटक खेला था और इस निमन्त्रण को महात्माजी की ओर से स्वीकार कर लिया। जव महात्माजी नाटकघर में पहुचे तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वहा उन्हे पारसी थियेटरो की तरह का साज-सामान—विदेशी कपडे, मुह पर पाउडर इत्यादि—का दृश्य दीख पडा। वहा से लौटकर उन्होने अपने साथियो को ऐसी डाट वतलाई कि वे रो पडे। महात्माजी ने कहा, "तिलक-स्वराज्य-फड के दिनो मे मुझसे एक थियेटर के मालिक ने कहा कि आप हमारे नाटक-घर में सिर्फ दस मिनट के लिए हो आइये, हम आपको पचास हजार रुपए देगे, पर मैंने जाना नामजूर कर दिया, क्योकि मै जानता था कि लाखो आदमी ऐसे है, जिनकी दृष्टि मेरे चरित्र पर है, और यदि मै कोई गलती करूगा तो उनपर उसका वडा वुरा प्रभाव पडेगा। मै नही गया और पचास हजार रुपये मैने छोड दिये।"

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

गीता का यह वाक्य साहित्य-सेवियो को सदा अपने सम्मुख रखना चाहिए।

साहित्य-सेवियो की जिम्मेदारी वडी भारी है। साधारण हिन्दी-जनता के हृदय मे जो भारतीय सस्कृति वीज-रूप से विद्यमान है, उसको उचित मानसिक जलवायु और भोजन पहुचाने का काम उन्हीके जिम्मे है और उन्हीके प्रयत्न से वह वीज फल-फूल कर सुविशाल वृक्ष का रूप धारण कर सकता है।

साहित्य-सेवियो को अपने व्यक्तित्व को स्वाधीन रखने की अत्यन्त आवश्यकता है, क्योकि पराधीन व्यक्ति अपनी सम्मति स्पष्टतया प्रकट नही कर सकता। अपनी विलायत-यात्रा मे एक वार महात्माजी ने कहा

था, "उन पत्रकारो को जो अपनी सम्मति स्पष्टतया प्रकट करना चाहते है, गरीबी का जीवन स्वीकार करना चाहिए। यदि वे ऐसा नही कर सकते तो बेहतर है कि वे कोई दूसरा पेशा अख्तियार करे, चमार का काम करे और जूते बेचे।" भारतीय पत्रकारो तथा साहित्य-सेवियो के लिए यह बात और भी दृढता के साथ कही जा सकती है। अपनी सम्मतियो को बेचकर रुपये पैदा करने की अपेक्षा यह कही बेहतर है कि आटा-दाल बेचकर अपनी गुजर की जाय।

आर्थिक लोभ अथवा सङ्ग्रह-वृत्ति भारतीय साहित्य-सेवियो का आदर्श कदापि नही रहा। वाल्मीकि और व्यास सुविशाल भवनो के निवासी नही थे, और कबीर तथा तुलसी ने किसी बैंक मे रुपया जमा नही किया! जब हम किसी साहित्य-सेवी के विषय मे सुनते है कि उन्होने साहित्य-सेवा द्वारा इतन सहस्र रुपये कमाये तो हमारे हृदय मे यह जानने की उत्कठा उत्पन्न होती है कि उन रुपयो का उन्होने क्या सदुपयोग किया। प्राचीन आर्य-सस्कृति के अनुसार लेखको तथा कवियो का आदर्श हजारो रुपया जमा करके अपने बालबच्चो को छोड जाने का कदापि नही था। और क्या हमारे यहा कोई ऐसा कवि या लेखक विद्यमान है, जिसका प्रभाव उन महानुभावो के सहस्राश या लक्षाश तक भी पहुँच सके? सग्रहवृत्ति प्राच्य आदर्श कदापि नही, पाश्चात्य आदर्श भले ही हो।

भारत के—भारत के ही नहीं, शायद ससार के—सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक कविवर रवीन्द्रनाथ के ही जीवन को लीजिये। बहुत से लोग समझते है कि कविवर का जीवन बडी सरलता के साथ कटता है। कोई-कोई महानुभाव कह बैठते है, "यदि कविवर के साधन हमारे पास होते तो हम यह कर लेते, वह कर लेते। खाने-पीने की कुछ फिक्र नही, सब तरह के ऐशो-आराम के सामान मौजूद है, जो वस्तु जब चाहे, उपस्थित हो सकती है। सुन्दर प्राकृतिक स्थान रहने के लिए है। भला ऐसी स्थिति मे अच्छी कविता कोई क्यो न कर सकेगा?" इस प्रकार का तर्क हमने अनेक सज्जनो के मुह से सुना है। इन लोगो को न तो कविवर के वास्तविक जीवन का कुछ ज्ञान

है, और न उनके आदर्श तथा आकाक्षाओ का बिलकुल पता है। उपनिषद् का निम्नलिखित वाक्य कविवर का आदर्श था —

ईशावास्यमिद सर्व यत्किंच जगत्याजगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम्॥

क्या हम लोग जानते है, कितने आदमियो को कविवर ने लेखक तथा कवि बनने मे सहायता दी है? कितने आदमी उनकी प्रेरणा से कुशल चित्रकार और सुदक्ष सगीतज्ञ बन गये? कितने साहित्य-सेवियो को उन्होने अपनी प्रतिभा के विकास मे पूरी-पूरी सहायता दी है? कितने विद्यार्थियो के लिए उन्होने मनोहर प्राकृतिक सौन्दर्य तथा हितकर सत्सग सुलभ बना दिया है? कितने देशी-विदेशी विद्वानो को उन्होने शान्ति-निकेतन का आतिथ्य ग्रहण करने तथा भारतीय सस्कृति से परिचित होने का अवसर प्रदान किया है? कितने ग्रामीण उनके श्रीनिकेतन द्वारा अपने जीवन मे नवीनता अनुभव कर रहे है। दरअसल कविवर की यह दान-शीलता ही है, जिसने उनके व्यक्तित्व को सजीव बना रखा है। स्वय आनन्द उठाना आसान बात है, पर उसमे मजा नही, गौरव इसीमे है कि उस आनन्द को मिलकर बाटा जाय। जो साधन आपको प्राप्त है, उन्हे दूसरो के लिए भी सुलभ कीजिए, तभी आप अपने व्यक्तित्व का पूर्णतया विकास कर सकते है। इसमे रुपये का सवाल उतना नही है, जितना मान-सिक वृत्ति का है। यदि पूज्य महावीरप्रसाद द्विवेदी चौबीस रुपये के वेतन मे भी चार रुपये दान कर सकते थे, तो हम लोग तो उनसे कई गुना वेतन पाते है। बीसियो विद्यार्थी आपको ऐसे मिलेगे, जिनको यदि समय पर थोडा भी प्रोत्साहन मिल जाय तो वे आगे चलकर अच्छे लेखक अथवा कवि बन सकते है। क्या उनसे सहृदयतापूर्वक मिलने तथा उत्साह की दो बात कहने मे भी खर्च होता है? आपके दरवाजे पर भीख मागने के लिए जो बुढिया आया करती है, उसकी रामकहानी किसी उपन्यास से भी अधिक करुण है। यदि आपमे लेखनशक्ति है, तो उसकी करुण-कथा लिखकर उसकी कुछ सहायता कीजिये। यदि हम जरा और कान खोलकर चले तो हमे अपनी लेखनी के

लिए नित्यप्रति मसाला मिल सकता है। एक रूसी लेखक ने लिखा है—

"क्या तुम लेखक वनना चाहते हो ? यदि हा, तो अपनी जाति के पुराने जमाने से सचित दु खसमूह का इतिहास पढो। अगर उसे पढते हुए भी तुम्हारा हृदय विदीर्ण न हो तो अपनी लेखनी फेक दो। वस, फिर सब कोई तुम्हारे पाषाण-हृदय की खेदजनक शुष्कता को पहचान लेगे।"

प्रत्येक लेखक को अपना लक्ष्य और आदर्श स्वय चुनना चाहिए। किसी दूसरे के चुने हुए आदर्श को अन्ध-विश्वास के साथ मान लेने का परिणाम अच्छा नही हो सकता। भिन्न-भिन्न प्रकार के लेखको से मिलिये। प्राचीन और नवीन लेखको तथा कवियो की रचनाओ को पढिये और उनका सत्सग भी कीजिये। केवल अपनी ही भाषा के नही, दूसरी भाषाओ के भी विद्वानो से परिचय प्रा त कीजिये। अपने दृष्टिकोण को ऊचा रखिये और शिक्षा जहा कही से भी मिल सकती है, उसे ग्रहण कीजिये। इस प्रकार प्रयत्न करते-करते आप अपने आदर्श को चुन सकते है, पर चुन लेने के वाद भी आपको सदा इस वात के लिए तैयार रहना चाहिए कि यदि भविष्य मे इनसे उच्चतर आदर्श मिलेगा तो हम निस्सकोच उसे ग्रहण कर लेगे। हमे अपने लिए जो आदर्श दीख पडते है, वे ये है —

प्राचीनो मे कवीर और तुलसी, आधुनिको मे सत्यनारायण, गणेशजी, द्विवेदीजी तथा पद्मसिहजी। इन महानुभावो ने जिस प्रकार अपना जीवन व्यतीत किया है, उसे अपना आदर्श मानकर कोई भी साहित्य-सेवी गौरवान्वित हो सकता है। जिस प्रकार पूर्ण ब्रह्मचर्य आजकल के जमाने मे एक आदर्श की भाति रह सकता है, व्यवहार मे उसे चरितार्थ करना लगभग असम्भव है, उसी प्रकार हमारे जैसे क्षुद्र आदमियो के लिए तुलसी और कवीर के आदर्शो के अनुसार चलना असम्भव ही समझिए। फिर भी आदर्शो को सामने रखने की आवश्यकता है। आत्मा का विकास एक जन्म मे ही थोडे हो सकता है। कभी-न-कभी, दस-वीस जन्म मे ही सही, हम लोग अपने आदर्श के निकट पहुच सकते है।

तुलसीदासजी का आदर्श सुनिये—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपात सन्त सुभाव गहौंगो ।
जथा लाभ सन्तोष सदा काहूसो कछु न चहौंगो;
परहित निरत निरन्तर मन क्रम बचन नेम निवहौंगो ।
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो,
विगत मान सम सीतल मन पर गुन अवगुन न कहौंगो ।
परिहरि देह-जनित चिन्ता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ,
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो ।

कबीर कहते हैं—

साईं इतना दीजिये, जामें कुटुंब समाय,
मैं भी भूखा ना रहू, साधु न भूखा जाय ।
कबिरा खडा बजार में, लिये लुकाठी हाथ ;
जो घर फूके आपना, चलै हमारे साथ ।

इन उद्धरणो मे किसी भी साहित्यिक को अपना जीवन बनाने के लिए काफी प्रेरणा विद्यमान है । सत्यनारायण का चरित हम इसलिए आदर्श मानते हैं कि उन्होने साहित्य-सेवा को कभी वणिक-वृत्ति के अधीन नही किया । जिस प्रकार उपवन मे गानेवाली कोकिल इस बात का खयाल नही करती कि मेरा गाना सुनकर मुझे कोई दाना-पानी देगा, उसी प्रकार यह ब्रज-कोकिल सर्वथा निस्स्वार्थ-भाव से साहित्याकाश को अपनी मधुर वाणी द्वारा गुंजायमान करता रहा । और अमर शहीद श्रद्धेय गणेशजी के विषय मे क्या लिखा जाय ? राजा-महाराजाओ की भृकुटी जिसे विचलित न कर सकती थी, करोडपतियो की अखिल सम्पत्ति जिसे खरीद न सकती थी और शक्तिशाली सरकार भी जिसकी आत्मा का दमन न कर सकती थी, भला उसका चरित किसके लिए आदर्श न होगा ? पूज्य द्विवेदीजी की कर्त्तव्यप्रियता, परिश्रमशीलता और निर्भीकता किसके

लिए अनुकरणीय नही है? पद्मसिहजी की सहृदयता, दूसरो को उत्साहित करने की अकृत्रिम प्रवृत्ति और सच्चा साहित्यिक जीवन हमे बहुत-कुछ सिखला सकता है।

हम यह नही कहते कि सब लोग केवल इन्हीको अपना आदर्श माने, पर कोई-न-कोई आदर्श प्रत्येक लेखक या कवि को अपने सम्मुख अवश्य रखना चाहिए। आजकल की साहित्यिक धाधलेबाजी के जमाने मे इसकी आवश्यकता है। कोई अपनी किताबो को पाठ्यक्रम मे नियत कराने के लिए खुशामद कर रहा है और रिश्वत दे रहा है तो कोई धनाढ्यो की चाटुकारी करके उनसे रुपये ऐठना चाहता है। किसीने अपना मठ कायम करके गुरुडम के द्वारा सम्पूर्ण साहित्य-क्षेत्र पर अपना एकाधिपत्य जमाने की ठान ली है, तो कोई तिकडमबाजी द्वारा जल्दी-से-जल्दी लखपती बनने की फिक्र मे है। कोई दलबन्दी का आश्रय लेकर अपने पैसो के बल-बूते पर साहित्य-ससार मे रोब जमा रहा है तो कोई महात्मा बनने का ढोग रच रहा है। ऐसी परिस्थितियो मे नवीन साहित्य-सेवी की अक्ल चकरा सकती है, वह किसे आदर्श माने, किसे न माने।

हम लोगो ने अभी तक उस महत्त्वपूर्ण भाग की कल्पना नही की है, जो हिन्दी लेखक तथा कवि स्वाधीन भारतीय राष्ट्र के निर्माण मे ले सकते है। जो महान् कार्य हिन्दी-साहित्य-सेवी कर सकते है, वह अन्य प्रान्तीय भाषा-भाषियो के लिए कठिन होगा, पर इसके लिए कई बातो की आवश्यकता है—

(१) अपने राष्ट्र तथा अपनी भाषा के उज्ज्वल भविष्य मे हमारा विश्वास हो।

(२) इस बात को हम कभी न भूले कि अच्छे साहित्यिक होने के लिए अच्छा आदमी बनना आवश्यक है और देश तथा भाषा को सहृदयतापूर्ण, सज्जनता तथा दम्भहीन पवित्रता की जितनी आवश्यकता है, उतनी शुष्क विद्वत्ता की नही।

(३) हमारे आदर्श भारतीय सस्कृति के अनुरूप हो, साधारण जनता की सेवा को ही हम अपना पुरस्कार समझे, हमारे लेखो के पीछे व्यक्तित्व हो और अपने लक्ष्य के लिए मर-मिटने के लिए हम सदा तैयार रहे।

सच्चे साहित्यिको की जीवन-नौका को वास्तव मे अनेक खतरो का सामना करना पडता है। आर्थिक प्रलोभनो की चट्टानो या बेकारी के तूफानो मे बडे-बडो का धैर्य छूट जाता है। ऐसे अवसर पर सच्चा आदर्श ही हमारे लिए ध्रुव-नक्षत्र का काम करेगा।

: ४ :

# स्वधर्मे निधनं श्रेयः

वर्तमान युग मे सजीव तथा स्वाधीन-चेता साहित्य-सृष्टाओ के सम्मुख सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न यह है

क्या हम किसी पार्टी का बिल्ला लगाये बिना जिन्दा रह सकते है ? और ज्यो-ज्यो राजनैतिक दलो के सघर्ष तीव्रतर होते जायगे और भिन्न-भिन्न दलो के सिद्धातो तथा विश्वासो की मुठभेड की ध्वनि साहित्याकाश मे ध्वनित होती जायगी, यह प्रश्न निरन्तर उग्रतर रूप धारण करता चला जायगा, इसीलिए आज इसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है।

अमुक लेखक बुर्जुआ वर्ग मे पैदा हुआ था, इसलिए उसके अन्त करण मे अपने वर्ग की भावना काम करती रही होगी। वह स्वभावत निम्नकोटि के पददलित आदमियो का चरित्र-चित्रण करने मे असमर्थ है। साहित्यिको के गले मे भिन्न-भिन्न वादो की कठी बाध देने की यह निन्दनीय प्रवृत्ति जिनके हृदय मे उत्पन्न होती है, वे किसी एक राजनैतिक दल मे ही नही, सभी पार्टियो मे पाये जाते है। सवाल यह है कि क्या कोई भी जिन्दादिल साहित्यिक इस प्रकार सकीर्ण शिकजो मे फसना पसन्द करेगा ?

निस्सन्देह उन लेखको का मार्ग कुछ सरल हो जाता है, जो किसी पार्टी विशेष का प्रचार करने मे अपनी शक्ति का उपयोग करने लगते है। यद्यपि उग्र विचारो के समर्थन मे उन्हे खतरे का सामना करना पडता है तथापि यह आशा तो उन्हे रहती ही है कि हमारी पार्टी के हाथ मे ताकत आने पर हमारे कार्यो का पारिश्रमिक हमे मिल ही जायगा। यह आशा

कितनी निराधार है, यह बतलाने की आवश्यकता नही।

ऐसी स्थिति मे साहित्य-सेवी क्या करे ? इस सवाल का कोई बधा-बधाया जवाब हो नही सकता। हा, एक व्यापक उत्तर अवश्य दिया जा सकता है कि अपनी अन्तरात्मा की ध्वनि के अनुसार जैसा वह समझे करे।

वर्तमान युग मे रोम्या रोला और स्टीफन ज्विग, इन दो मित्रो ने इस प्रश्न को दो भिन्न-भिन्न ढगो पर सुलझाया और दोनो ने ही 'स्वधर्म' का पालन किया, ऐसा कहना अनुचित न होगा। मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो का समूह है। किसीमे एक प्रवृत्ति जोरदार होती है तो किसीमें दूसरी। रोम्या रोला जीवनभर अपनी लेखनी द्वारा अन्यायो तथा अत्याचारो का विरोध करते रहे। जुल्म चाहे हिन्द-चीन मे हुआ हो या भारत मे, अपनी बुलन्द आवाज उसके खिलाफ उठाने मे उन्होने कभी सकोच नही किया। स्वय कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर को, जो सरस्वती के अनन्य साधक थे, अनेक बार साम्राज्यवादियो के खिलाफ कठोर-से-कठोर भाषा का प्रयोग करना पडा। इनसे सर्वथा भिन्न उदाहरण स्टीफन ज्विग का है, जिन्होने विवादग्रस्त राजनीति से सदा अपने को पृथक् ही रखा और जबतक हम उनकी विशेष परिस्थितियो को भली-भाति समझ-बूझ न ले तबतक उनके बारे मे किसी निर्णय पर पहुचना उनके प्रति अन्याय ही होगा।

ज्विग आस्ट्रियन थे, यहूदी थे, सरस्वती के एकान्त उपासक और शान्तिवादी भी। इसका परिणाम यह हुआ कि घोरतम सघर्ष मे से उन्हे गुजरना पडा। पिछले दोनो युद्धो मे आस्ट्रिया की जो दुर्दशा हुई उसका वर्णन करना आसान नही और यहूदियो पर जो जुल्म ढाये गये वे भी वर्णनातीत है। ज्विग को विवादग्रस्त राजनीति मे कोई दिलचस्पी नही थी, पदो के प्रति कोई मोह नही था। एक बार उन्हे आस्ट्रियन सरकार ने अपना राजदूत बनाकर विदेश भेजने की बात सोची थी, पर ज्विग ने उस प्रलोभन को अस्वीकार ही कर दिया, किसी पार्टी विशेष का प्रोपेगेण्डा करना उनकी

रुचि के सर्वथा प्रतिकूल था और अपने सिद्धातो की विक्री करने की वात वे स्वप्न मे भी नही सोच सकते थे, कीर्ति या विज्ञापन की उन्हे जरूरत नही थी। एक सस्कृत कवि का कथन है कि कीर्ति-रूपी कन्या सदा क्वारी ही रही है। जो उसे चाहते है उन्हे वह नही चाहती और जिसे वह चाहती है, वह पुरुष उसे (कीर्ति को) नही चाहता। जिस अमर ग्रन्थकार के ग्रन्थो का अनुवाद तीस भापाओ मे हुआ हो, जिसके विषय मे राष्ट्र-सघ की वौद्धिक सहयोग समिति का यह कथन हो कि वर्तमान युग मे ससार मे सवसे अधिक अनुवाद ज्विग की ही रचनाओ के हुए है, भला उसे राजनैतिक नेताओ से सर्टीफिकेट लेने की जरूरत ही क्या थी ?

वौद्धिक परिश्रम को ही जो जीवन की सवसे अविक आनन्दप्रद वस्तु मानता हो और व्यक्तिगत स्वाधीनता को जिसने जगत की अमूल्य निधि समझा हो, उससे यह उम्मीद करना कि वह किसी पार्टी की कठी गले मे वाध लेगा, महज हिमाकत है। स्वाधीनता की वलि-वेदी पर अपने उत्कृष्ट जीवन की ही वलि जिसने दे दी उससे आप और किस उत्तमतर वलिदान की आशा रख सकते है ?

चचला राजनीति के चगुल मे फसे हुए नेता अमर साहित्य की रचना करने वाले साहित्य-सृष्टाओ को अपना पिछलग्गू वनाने का प्रयत्न करने लगते है, तो वे शेर को विल्ली समझने की भूल करते है। ज्विग निरन्तर जागरूक रहे और ऐसे पिजडो मे फसने की गलती उन्होने कभी नही की। महीने-दो महीने रूस मे विताकर उसके पक्ष या विपक्ष मे पुस्तक लिख देने वाले ग्रन्थकार ससार के अनेक देशो मे पाये जाते है, पर ज्विग ने इस 'काता और ले दौड़े' वाली नीति का अनुगमन नही किया।

ज्विग का सावनामय जीवन और असाधारण मृत्यु दोनो का ही हमारे लिए आज विशेप महत्व है। वह दिन दूर नही है, वल्कि यो कहना चाहिए कि वह घडी आ पहुची है जव कि प्रत्येक सजीव साहित्यिक को अपने जीवन के मुख्य ध्येय के विपय मे अन्तिम निर्णय करना होगा।

कौन कहता है कि अन्याय और अत्याचार का विरोध न किया जाय ?

किया जाय और जरूर किया जाय, पर उसका तरीका यह नही है कि सबको एक लाठी से हाका जाय अथवा सबके माथे पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के बिल्ले लगा दिये जाय। जिन्हे सामूहिक रूप से विरोध करने मे सुविधा हो, वे वैसा करे, और जो व्यक्तिगत तरीके पर ही सग्राम करना चाहे उन्हे उसकी छूट रहनी ही चाहिए।

सबसे मुख्य सवाल हमारे लिए यह है कि हम अपनी अन्तरात्मा की आवाज के प्रति वफादार किस प्रकार रहे ?

ससार वैचित्र्यमय है और वचित्र्य ही जीवन है। एक राजनैतिक दल,एक नेता और एक ही कार्यक्रम की आवाज जो लोग लगाते है वे किसी-न-किसी दिन अपने को भेड के रूप मे पावेगे और राम-कृपा से उन्हे अपनी रुचि का गडरिया मिल ही जायगा—'जो इच्छा करिहो मनमाही, रामकृपा कछु दुर्लभ नाही।' पर यह पथ एकाकी चलने वाले साहित्यिको का नही है।

हर लेखक, कवि अथवा पत्रकार को आज के महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर स्वय ही देना है। 'स्वधर्मे निधन श्रेय' ही हम लोगो के लिए आदर्श वाक्य है। याज्ञवल्क्य ने जब अपनी पत्नी को आध्यात्मिक ज्ञान से विरत करने के लिए अनेक प्रलोभन दिये थे तब उन्होने एक ही उत्तर दिया था—येनाहम् नामृतास्याम् तेनाह किं कुर्याम्।' (जो चीज मुझे अमर नही बनाती उसे लेकर मै क्या करूगी ?) जो भारतीय लेखक क्षणिक पद-प्रतिष्ठा को तिलाजलि देकर अपने अन्त करण की ध्वनि के अनुसार कार्य करेगे वे ही उस प्रश्न का यथोचित उत्तर देगे।

: ५ :

# भावी युग और लेखक

आज हम सक्राति-काल मे से गुजर रहे है और क्या राजनीतिज्ञ, क्या उद्योग-पति, क्या राजा और क्या प्रजा, सभी घबराये हुए से है। खास तौर पर भारतवर्ष मे तो हम लोग भविष्य के विषय मे अत्यन्त चिन्तित है। क्या होने जा रहा है? यह प्रश्न सबके लिए चर्चा का विषय बना हुआ है। ऐसी परिस्थिति मे पत्रकारो का, जो जनता के शिक्षक होने का दम भरते है (या दावा करते है) कर्तव्य हो जाता है कि वे अपने विचार इस विषय पर प्रकट करे।

विचारो मे जबरदस्त शक्ति है। आज जो विचारमात्र है, कल वह कार्यरूप मे परिणत हो सकता है। एक बात हमे न भूलनी चाहिए। वह यह कि ससार की भावी सामाजिक व्यवस्था अखिल जगत के मानव-समूह के सामूहिक विचारो का परिणाम होगी। दुख की बात यही है कि ससार के करोडो मनुष्य अपने आप विचार करने की शक्ति खो बैठे है।

### 'तन मन धन गुसाईजी के अर्पन'

यह भावना दुनिया के लिए कोई नवीन नही है। जहा भक्ति मानव-जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है, वहा अन्ध श्रद्धा उसके लिए विघातक भी हो सकती है। दुनिया के लिए सबसे अधिक खतरनाक व्यक्ति तानाशाह नही है, बल्कि वे अन्धश्रद्धालु आदमी है, जो अपनी अकल से काम न लेकर किसी व्यक्ति-विशेष के घोर भक्त बन जाते है और सही-गलत हर हालत मे उसका अनुगमन करते है।

मार्क्सवाद, गाधीवाद और इनकी शाखा-प्रशाखाओ ने जनता के मस्तिष्क को भर दिया है। जिस तरह भिन्न-भिन्न मजहब वालो का यह

दावा है कि स्वर्ग के द्वार की कुजी उन्हीके पास है, उसी तरह साम्यवादी, समाजवादी और गाधीवादी यही समझते है कि मुक्ति का मार्ग उनके सिवाय और कोई नही जानता। सारी राजनैतिक वीमारियो को दूर करने की दवा उन्हीके पास है। मानव ऐसा प्राणी नही है जो वहुत वर्षो तक सकीर्ण विचारो की चहारदीवारी मे बन्द रक्खा जा सके। डिक्टेटर लोग चाहे वे हिटलर के अनुयायी हो या स्टैलिन के—यही गलती कर बैठते है। वे मस्तिष्क की महान शक्ति की अवहेलना करते है। कोई भी सामाजिक व्यवस्था, जो भिन्न-भिन्न रुचियो के मानव-समूहो की नाना प्रकार की आवश्यकताओ की उपेक्षा करके केवल एक ही किस्म के विचार सवपर लाद देना चाहती है, स्वय अपनी असफलता के वीज वोती है।

अव समय आ गया है कि हम लोग अपनी सम्मति स्पष्टतया जनता के सम्मुख रख दे। सभवत उससे सघर्ष होगा, पर इस सघर्ष से हम डरें क्यो ?

क्या गाधीवादी और क्या समाजवादी या साम्यवादी व्यवहारत डिक्टेटरी की ओर जाते हुए नजर आ रहे है। वे इस वात की फिक्र मे है कि राजनैतिक सत्ता के सूत्र कुछ चुने हुए आदमियो के, जो उन्हीकी पार्टी के हो, आ जावे !

फिर क्या किया जाय ?

सवाल वहुत मुश्किल है और हमारे लिए, जो व्यावहारिक राजनीति से कोसो दूर है, इसका सन्तोषजनक उत्तर देना असम्भव है। अपने क्षुद्र जीवन के अनुभवो के आधार पर हम इतना निवेदन कर देना चाहते है कि हमारा कल्याण विकेन्द्रीकरण के सिद्धातो पर चलने से हो सकता है। विकेन्द्रीकरण नाम से डरने की जरूरत नही। छोटे-छोटे सघो का निर्माण तथा स्वेच्छापूर्वक उनका सहयोग, इसीको हम विकेन्द्रीकरण मानते है। विकेन्द्रीकरण की भावना के पीछे एक दर्शन-शास्त्र है और उसके मूल मे साधारण जन के व्यक्तित्व के प्रति सम्मान निहित

है। महात्मा गाधी की भावी सामाजिक व्यवस्था मे विकेन्द्रीकरण का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । चरखा तो विकेन्द्रीकरण का प्रत्यक्ष स्वरूप ही है। स्वतत्र व्यक्तित्व के विकास के लिए हमे छोटे-छोटे सघ कायम करने होगे, वहा समानशील व्यक्ति साथ रहकर मेलजोल की नीति के अनुसार काम कर सके। सख्या का मोह हमे छोड देना चाहिए। शक्ति सख्या मे नही है, वल्कि सामूहिक कार्य-प्रवृत्ति मे है । ये समूह सर्वथा स्वतत्रतापूर्वक भिन्न-भिन्न प्रश्नो पर विचार करे और उन विचारो को परिपक्व बनाकर साधारण जनता के सम्मुख रक्खे । उस अव्यवस्थित फौज से जिसके सिपाही भिन्न-भिन्न दिशाओ मे मार्च कर रहे हो अल्पसख्यक समानशील व्यक्ति कही अधिक शक्तिशाली सिद्ध होगे ।

हमे उन नेता या वैद्य पर स्वभावत. अविश्वास करना चाहिए, जो सब मर्जो की एक ही दवा वतलाता हो। मस्तिष्क के कपाट हम बन्द क्यो कर ले ? देश को सबसे अधिक इस समय विचारक की जरूरत है, जो वैज्ञानिको की तरह बिलकुल ईमानदारी के साथ सामाजिक व्याधियो तथा उपाधियो का अध्ययन करे और अपना निदान जनता को बतलावे ।

हमारे मुल्क को इस वक्त व्यापक शिक्षा की आवश्यकता है और वह सरल-से-सरल भाषा मे और सस्ते-से-सस्ते मूल्य पर मिलनी चाहिए। गरीब लोगो के पास इतना पैसा कहा है कि वे कीमती किताबे खरीद सके ? वहुत-कुछ प्रचार-कार्य हमे आने और दो-दो आने वाले ट्रेक्टो से लेना होगा। व्याख्यानो से, रेडियो-द्वारा प्रचार-कार्य से और ग्रामो मे घूम-घूम कर मैजिक लैन्टर्न द्वारा लैक्चर देने से और कथाओ तथा सम्मेलनो की मदद से जनता शिक्षित की जा सकती है। मनुष्य के मस्तिष्क को मुक्त करना है और 'सा विद्या या विमुक्तये' इस प्राचीन सिद्धात के अनुसार हमे प्रत्येक साधन द्वारा इसी उद्देश्य की ओर आगे वढना चाहिए। कोरमकोर साक्षरता शिक्षा नही है । डिबेटिंग क्लवो मे चाय की चुसकियो के साथ वाद-विवाद कर लेने से भी भावी युग निकट नही आ सकेगा ।

प्राचीन आश्रम-प्रणाली का हमे उद्धार करना पडेगा। 'कम्यून' उसी का आधुनिक रूप है। हमारा तो यह दृढ विश्वास है कि कम्यून प्रणाली को अगीकार किये विना हमारा उद्धार नही हो सकता। यदि उसमे कुछ दोष हो तो वे दूर किये जा सकते है। हम लोग सभी अपूर्ण है और इस बात की उम्मीद करना कि गौतम, कपिल, कणाद की तरह के ऋषि हमारे कम्यूनो मे शामिल हो, महज हिमाकत है। अधूरे आदमियो को लेकर ही हमे अपने प्रयोग करने होगे। पर इतना जरूर खयाल रखना होगा कि स्वच्छन्दता तथा स्वाधीनता दोनो अलग-अलग चीजे है। प्राचीनकाल के उन नियमो को जो मानव-कल्याण मे सहायक हुए है, धता वता देना, केवल इसी आधार पर कि वे प्राचीन है, बुद्धिमत्ता नही है। किसी अग्रेज कवि ने कहा था—

"अपने सिद्धान्तो को कार्य-रूप मे परिणत करो, दुहेरी जवान से मत वोलो।"

हम चाहते है कि इन छोटे-छोटे सघो के व्यक्ति अपने विचारो तथा आचारो मे सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करे।

अन्य लोगो से कुछ भी कहने का अधिकार हमे नही है, पर लेखक वन्धुओ से हमे कुछ निवेदन करना है। इस समय स्वाधीन-चेता लेखको की सख्या अधिक नही हो सकती। कारण यह है कि जीविका के लिए हम लोगो को दूसरो पर निर्भर करना पडता है। इसी वजह से "जिसका खावे उसका गावे" इस नीति का अनुगमन करने के लिए हम बाध्य हो जाते है। आज तो हमारे अधिकाश पत्रकारो को विचारो की स्वाधीनता प्राप्त नही है और "गगा गये गगादास और जमना गये जमनादास" के सिद्धान्त को ही व्यवहार मे लाने के लिए हम मजबूर हो रहे है। पर यह मार्ग मुक्ति का नही, वधन का है।

हमे प्रलोभनो से वचना है। ऊची तनख्वाहो और मोटर की सवारी के मोह को छोडना है। यद्यपि अभी तो हममे से ९९ प्रतिशत को पुष्टिकर भोजन के ही लाले पडे रहते है, तथापि धन के प्रति हमारे मन मे जो अत्युच्च

भावना है, वही दरअसल खतरनाक है। कबीर कोई एम ए, डी-लिट् नही थे, न सम्पादकाचार्य, पर बात उन्होने बडे पते की कही थी—

"जो खाएगा चूपड़ी, सो बहुत करेगा पाप।"

भारतीय लेखको के लिए बर्नार्ड शा का नही, ए० ई० जार्ज रसैल का दृष्टान्त अनुकरणीय है। ए० ई० की स्थायी आमदनी कुल जमा सवा-सौ रुपये महीने थी, यद्यपि वे आयरलैंड मे उतने ही सम्मान-पात्र थे, जितने कवीन्द्र रवीन्द्र भारतवर्ष मे।

दूसरा निवेदन हमे यह करना है कि हम मताग्रही न बने। अपने विपक्षियो के प्रति भी हमे सहिष्णु होना चाहिए। जगत मे जहा कही भी प्रकाश हो वहा से हमें उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। ऋषि-मुनियो को उत्पन्न करने का ठेका केवल भारतवर्ष ने ही ले रक्खा था, यह विचार-पद्धति अत्यन्त सकीर्ण है। कार्ल मार्क्स की साधना किस ऋषि से कम थी? और महाप्राण बाकूनिन की तपस्या किस मुनि से कम?

महात्मा गाधी और क्रोपाटकिन, इन दोनो महापुरुषो की विचार-शैली मे अद्भुत साम्य है। लेखको का कर्तव्य है कि पाठको को केवल एक ही प्रकार के विचारो से अवगत न करावे। शैवो तथा वैष्णवो जैसा पारस्परिक विरोध क्या साहित्यिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे भी लाया जाना चाहिए?

तीसरी बात यह है कि हम केवल महापुरुषो के ही गुणगान करने की पद्धति को छोड दे। जिन्हे हम क्षुद्र समझते है उनमे भी अनेक अनुकरणीय गुण है। उन्हे प्रकट करना हमारा कर्तव्य है।

आज ऐटम बम के युग मे भी क्या किसी को साधारण जन (कामन-मैन) के महत्व को बतलाने की जरूरत बाकी रह गई है?

चौथी बात यह है कि हम यथाशक्ति अपने सिद्धान्तो के अनुसार अपना जीवन बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहें। हम यह मानते है कि यह कोई आसान काम नही है। यदि हम अभी कमजोर है तो अपनी कमजोरी को स्पष्टतया स्वीकार करके उसे दूर करने के लिए हमे दृढप्रतिज्ञ हो जाना चाहिए।

पाचवी बात यह है कि हम श्रम-विभाजन की नीति से काम ले। सभी व्यक्ति राजनीति-विशारद नही बन सकते और न हमे ऐसे विषयो पर अपनी टाग अडानी चाहिए, जिनके बारे मे हमारा ज्ञान नगण्य हो। जो लेखक एक अच्छा कोष तैयार करके जनता को देता है उसका काम राजनैतिक विषयो पर लेख लिखने वालो से कम थोडे ही है, बल्कि कुछ अशो में ज्यादा ही है और अच्छे अनुवादक का पद क्या मामूली मौलिक लेखको से नीचा है ? कोई भी छोटे-से-छोटा काम जिसे हम ईमानदारी से करते है, क्षुद्र नही है।

अन्त मे हमें यही कहना है कि हम निराश हर्गिज न हो। जिस युग की हम कल्पना कर रहे है वह आज न सही कल, कल न सही परसो, और परसो न सही तो अतरसो जरूर आवेगा। बल्कि यो कहना चाहिए कि उस भावी युग का आगमन हम लोगो के विचारशील और कार्यशील मानव, समाज की साधना पर निर्भर है। हमारी उत्कट साधना ही उसको निकटतर ला सकती है। स्व० लाला हरदयालजी ने एक बात बडे पते की कही थी। वह यह कि जिस युग की हम कल्पना करते है यदि उसके अनुसार रहना शुरू कर दे तो कम-से-कम हमारे लिए तो कुछ अशो मे वह युग आ ही गया समझो।

हमारे देश को कल्पनाशील विचारको, स्वाधीन-चेता लेखको और स्वप्नदर्शी कवियो की उतनी ही जरूरत है, जितनी राजनैतिक लीडरो की। आज जिन्हे हम स्वप्न मानते है कल वे मूर्तिमान होकर हमारे सम्मुख उपस्थित हो सकते है। स्वप्नो के आकाश मे विचरण करना कोई बुरी बात नही, यदि हमारे पैर जमीन पर हो।

: ६ :

# देश का साहित्यिक-सांस्कृतिक नवनिर्माण

महात्मा गाधी के शहीद हो जाने के दूसरे दिन ही आचार्य नरेन्द्रदेव ने ३१ जनवरी को लखनऊ रेडियो से भाषण देते हुए कहा था—

"जो भारतवर्ष के भविष्य के लिए सचेष्ट है, जो चाहते है कि उसकी उन्नत अवस्था हो, जो आज उसको पतन की अवस्था से बचाना चाहते है, उनका यह कर्तव्य है कि वे सघबद्ध होकर, इस राजनीति के पचडे को छोड़ना हो तो उसको भी छोडकर इस देश में एक ऐसे जीते-जागते सास्कृतिक आदोलन का प्रचार करे, जिस आदोलन के बल पर महात्माजी की शिक्षा इस देश मे टिक सके।"

इसके पूर्व श्री रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'हिमालय' के अक्तूबर '४६ के अक मे लिखा था——

"हम साहित्य को अपने जीवन में वह स्थान नही देते, जिसका वह हकदार है, हम साहित्य को एक फालतू चीज समझते है—फुर्सत की, तफरीह की चीज मानते है। साहित्य की इस उपेक्षा के लिए कुछ तो हम साहित्यिक खुद दोषी है—हम स्वय अपने अस्तित्व का महत्व और गम्भीरता अनुभव नही करते—फिर हमारा यह युग राजनीति का युग है। कल तक हमपर बलिदान का भूत सवार था, आज प्रभुता की चुडैल सवार है।"

जहा आचार्यजी ने सास्कृतिक आन्दोलन को इतना अधिक महत्व दिया है कि वे उसके लिए 'राजनीति के पचडे' को भी छोड देने के पक्ष में है, वहा श्री बेनीपुरीजी जीवन मे साहित्य के गौरवपूर्ण स्थान को सुरक्षित रखने के लिए अत्यन्त चिन्तित और उत्सुक प्रतीत होते है, जहा आचार्य-जी राजनैतिक दलबन्दियो या वाद-विवादो को 'पचडे' के नाम से पुकारते

है वहा बेनीपुरीजी मत्ता हडपने की राजनीति को 'प्रभुता की चुडैल' बतलाते हैं । वास्तव मे उपर्युक्त दोनो वाक्यो मे देश के साहित्यिक तथा मास्कृतिक शरीर को लगे हुए भयकर रोग का निदान कर दिया गया है। अव प्रश्न यह हैं कि रोग दूर कैसे हो ? प्रभुता की चुडैल देश के सिर से उतरे किस प्रकार ? और सास्कृतिक आदोलन का सचालन किस ढग से हो ?

पहली वात जो हमे निवेदन करनी है वह यह है कि हम साहित्य तथा सस्कृति को किसी वाद-विशेष के सीमित दायरे मे न वाधे । ये दोनो चीजे प्रगतिशील तथा परिवर्तनशील है और ये किसी प्रकार का वधन स्वीकार नही कर सकती । जो कोई भी दल, चाहे वह साम्यवादी हो अथवा समाजवादी या गाधीवादी, माहित्य और मस्कृति के गले अपनी साम्प्रदायिक कठीवटी वाधने का प्रयत्न करेगा, वह इन दोनो महान् वस्तुओ का कचूमर तो निकाल ही देगा, साथ ही वह अपने को उपहासास्पद भी बना लेगा ।

दूसरी वात यह है कि हम इन चीजो को एक ही ढाचे मे ढालने की फालतू कोशिश न करे । इस रग-विरगी दुनिया से यदि हमने वैचित्र्य को नप्ट कर दिया ओर एकरसता लाने के लिए प्रयत्न किया तो स्पन्दनशील हृदय हमारे हाथ से निकल जायगा तथा शुष्क निर्जीव शरीर ही हमारे पल्ले पडेगा । विविध जनपदो के स्वतत्र जनपदीय कार्यक्रम को स्वीकार कर लेने से ही इस वैचित्र्य की रक्षा हो सकती है ।

तीसरी बात जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है वह यह है कि हम सम्पूर्ण माहित्यिक तथा सास्कृतिक शक्तियो को केवल दो-एक स्थानो में ही केन्द्रित न कर वैठे । काम करने के दो तरीके है एक तो यह कि हम प्रारम्भ मे छोटे-छोटे माहित्यिक केन्द्र कायम करे ओर तत्पश्चात् उनके प्रातीय अथवा अखिल भारतीय सघ का निर्माण करे । यह पद्धति वैज्ञानिक है और पहले नीव रखकर उसपर भवन वनाने की तरह सर्वथा स्वाभाविक भी है। दूमरी पद्धति है पहले अखिल भारतीय केन्द्र की स्थापना करके उसके द्वारा समस्त शक्तियो को सचालित करने की । इस ढग से स्थानीय सस्थाओ का महत्व जाता रहेगा और वे केन्द्रीय मस्था की पुतली-मात्र रह जायगी ।

यही नही, इसका एक दुष्परिणाम यह भी होगा कि राजनैतिक क्षेत्रो की तमाम बुराइया केन्द्रीय सस्था मे घुस पडेगी और वह दलबन्दियो के दल-दल मे जा फसेगी ।

सक्षेप मे हमारे मौलिक सिद्धात ये है—:

(१) साहित्य और सस्कृति को हम वाद-विशेष की चहारदीवारी मे न बाधे ।

(२) इनके वैचित्र्य की रक्षा के लिए जनपदीय कार्यक्रम को पूर्ण-रूपेण अपनावे ।

(३) केन्द्रीकरण के बजाय विकेद्रीकरण की नीति से काम ले ।

इन सिद्धान्तो के निश्चित कर लेने के वाद कार्यपद्धति का प्रश्न उपस्थित होता है । हमारा विश्वास है कि कोई भी सरकार किसी साहित्यिक तथा सास्कृतिक आदोलन का विधिवत् सचालन कदापि नही कर सकती । किसी भी प्रगतिशील चीज का गठ-बधन राज्य जैसी स्थायित्व-प्रेमी सस्था से नही किया जा सकता। इसलिए सरकारी सहायता लेते समय हमे अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए । हम स्वय सरकारी सहायता को सर्वथा अवाछनीय मानते है, पर साथ-ही-साथ हमारा यह भी अनुभव है कि बडे पैमाने पर काम करने के लिए वर्तमान परिस्थिति मे सरकारी सहायता अनिवार्य है । सरकारी, कन्ट्रोल को बचाते हुए यदि वह मिल सके तो कोई मुजायका नही ।

साहित्यिक तथा सास्कृतिक कार्यो के लिए एक योजना बनाने का काम एक छोटी-सी कमेटी के सुपुर्द कर देना चाहिए । यह कमेटी जो योजना बनावे उसे हमे पहले देश की समस्त साहित्यिक तथा सास्कृतिक सस्थाओ के सम्मुख रखना चाहिए और तत्पश्चात् प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकार के सामने भी । पर इस महायज्ञ को सफलतापूर्वक सम्पन्न वही कर सकते है जो राजनैतिक पचडे से अपने को बचा सके । जबतक चुनाव के रणक्षेत्र, जिनमे पार्टी के लम्बकर्गो को विरोधी दल के घोडो पर भी तरजीह दी जाती है, विद्यमान है और हमारे बडे-से-बडे नेता उन सब असास्कृतिक

चालबाजियो का प्रश्रय लेते है, जिनका उपयोग निम्न श्रेणी के राजनैतिक कार्यकर्ता किया करते है, तबतक कोई भी सास्कृतिक आदोलन जड नही पकड सकता।

वर्तमान परिस्थिति मे हमे ऐसी योजना उपस्थित करनी चाहिए, जो व्यावहारिक हो और जिसमे राष्ट्र-भाषा अथवा प्रान्तीय भाषाओ के प्रति किसी प्रकार का अन्याय न किया गया हो। उदाहरण के लिए हम निम्नलिखित प्रस्ताव उक्त कमेटी के सम्मुख रख सकते है—

(१) दक्षिण भारत की भाषाओ के अध्ययन के लिए दिल्ली मे एक महाविद्यालय की स्थापना की जाय।

(२) इम्पीरियल लाइब्रेरी की तरह की एक महान लाइब्रेरी स्थापित की जाय, जिसमे देशी भाषाओ के ग्रन्थ रहे और जहा से ये ग्रन्थ रुपया जमा कर देने पर उधार दिये जा सके।

(३) भारत की भिन्न-भिन्न भापाओ मे अग्रेजी विश्व-कोष जैसे सन्दर्भ ग्रन्थो के निर्माण के लिए सहायता दी जाय।

(४) प्रान्तीय सरकारो द्वारा प्रत्येक जिले मे एक केन्द्रीय पुस्तकालय स्थापित किया जाय।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियो तथा पत्रकारो के लिए सुविधाएँ दी जाय। विदेशी भाषाओ के अध्ययन-अध्यापन का समुचित प्रबन्ध किया जाय।

(६) प्रान्तीय सरकारो द्वारा जनपदीय कार्यक्रम को प्रोत्साहन दिया जाय।

(७) पत्रकार विद्यालयो को आर्थिक सहायता दी जाय।

(८) देश के भिन्न-भिन्न पत्रकार-सघो को उनके महत्त्व के अनुरूप समान रूप से सुविधाए दी जाय।

(९) प्रान्तीय सरकारो द्वारा प्राचीन ग्रन्थो का प्रकाशन हो और साहित्यिक सग्रहालयो को सहायता दी जाय।

(१०) साम्प्रदायिकता का विष दूर करने के लिए केन्द्रीय सरकार

द्वारा एक सस्था की स्थापना की जाय।

(११) प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डलो मे साहित्यिक तथा सास्कृतिक कार्यों के लिए एक मन्त्री अलग ही रक्खा जाय। साहित्य और कला-विभाग स्थापित हो। स्वर्गीय अरण्डेल ने अपने एक लेख मे यह उपयोगी प्रस्ताव रक्खा था।

(१२) छोटे-छोटे सिपाहियो की दृष्टि से भारतीय स्वाधीनता-सग्राम का एक विस्तृत इतिहास लिखाया जाय।

सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो हमे हल करना है वह यह है कि जिस सस्कृति का हम निर्माण करने जा रहे है वह ग्रामीण होगी या शहरी ? इस केन्द्रीय प्रश्न के हल होने पर ही हमारे सास्कृतिक जीवन के अन्य प्रश्न निर्भर होगे। यह विषय इतना व्यापक है कि विशेषज्ञ विचारक ही इसपर अधिकार-पूर्ण सम्मति दे सकते है।

१ हमारे राष्ट्र की आत्मा का रूप क्या होगा ?

२. प्राचीन सस्कृति का कितना सुरक्षित हिस्सा रहेगा और नवीन संस्कृति की क्या-क्या बाते उसमे जोडनी होगी ?

३ शस्त्रास्त्रो की हिंसामयी बाढ मे हमारी अहिसा तथा अपरिग्रह की नौकाओ की रक्षा कहा तक हो सकेगी ?

४ इस महाद्वीप में जिन भिन्न-भिन्न सस्कृतियो का सगम हुआ है उनको सघर्ष से कैसे बचाया जाय और उनमे समन्वय कैसे स्थापित किया जाय ?

५ क्या गाधीवाद और समाजवाद का समन्वय सम्भव है ?

६ हमारा अनुमान है कि १० वर्ष के भीतर ही इस देश से निरक्षरता दूर हो जायगी और उस समय पाठको की सख्या मे कई करोड की वृद्धि हो जायगी। उनके लिए अभी से हमे कैसा साहित्य तैयार करना चाहिए ?

७ इस देश को डिक्टेटरी से कैसे बचाया जाय ?

जिस देश मे 'तन मन धन गुसाईजी के अर्पन' करने का सिद्धान्त सैकडो वर्षो से प्रचलित रहा हो और जहा गु डम के भक्तो के उर्वर हृदय-

क्षेत्र मे उसके उगने तथा पनपने के पूरे-पूरे साधन उपस्थित हो, वहा इस खतरे को कैसे रोका जाय ?

इन सभी प्रश्नो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के बाद ही योजना तैयार हो सकती है। तत्पश्चात् सच्चे साहित्यिक तपस्वियो तथा सास्कृतिक मनीषियो को जुटाने का सवाल उठेगा। यह कोई आसान काम नही है।

वाल्मीकि और व्यास, अश्वघोष और कालिदास, कबीर तथा तुलसी, महात्माजी तथा कवीन्द्र रवीन्द्र की विचार-धाराओ से परिपूर्ण भागीरथी को भारत के ग्राम-ग्राम तक पहुचने के लिए सहस्रो कार्यकर्ताओ की मनोवृत्ति को बदलने का कार्य क्या आसान है ? मानव-जीवन के लिए क्या चीजे महत्वपूर्ण है और क्या उपेक्षणीय और वास्तविक आनन्द किन वस्तुओ मे हैं, साधारण जनता को यह समझाना अत्यत कठिन कार्य है। प्रारम्भ मे ही हमे ऐसे अनेक तपोवन और आश्रम स्थापित करने होगे, जहा हमारे विशेषज्ञ बिना किसी चिन्ता के अपना कार्य कर सके।

यद्यपि कुछ कार्य ऐसे है, जिन्हे सरकारे ही आसानी से कर सकती है, तथापि यदि हम सरकारो के भरोसे बैठे रहे तो यह सास्कृतिक महायज्ञ कभी भी पूर्ण न हो सकेगा। आवश्यकता इस बात की है कि हम लोगो मे से जिसे भी जिस विषय की लगन हो, वह बिना किसी नेता का मुह ताके अपने स्थान से उसका कार्य प्रारम्भ कर दे। परमुखापेक्षिता दुनिया का सबसे बडा पाप है। अपने विश्वासो तथा सिद्धान्तो के लिए मर मिटनेवाले व्यक्ति ही नवीन सस्कृति का निर्माण कर सकेगे।

: ७ :

# साहित्य में उपेक्षितों का इतिहास

जीवने यत पूजा होला ना सारा
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा
ये फूल ना फूटिते झरेछे धरणीते
ये नदी मरुपथे हाराल धारा
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा ।
—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अर्थात्—"जीवन मे जो पूजाएँ समाप्त नही हो सकी, मै ठीक जानता हू, वे खो नही गई है, और जो फूल खिलने के पहले ही झड गया और जो नदी मरुभूमि मे भटक गई, मै ठीक जानता हू, वे भी खो नही गये है।"

कई वर्ष से एक विचार हमारे मन मे चक्कर काट रहा है और वह यह कि उन लेखको तथा कवियो के रेखाचित्र तैयार किये जाय, जिनका जीवन सघर्षमय रहा है, साधनो के अभाव मे जिनकी आकाक्षाए जहा-की-तहा विलीन होती रही है और जो तमाम कठिनाइयो के बावजूद साहित्य-सेवा के दुर्गम पथ पर निरन्तर चलते रहे है।

आधुनिक दुनिया सफलता की पुजारी है और वस्तुत वह असफल लोगो को उपेक्षा ही नही, घृणा की दृष्टि से भी देखती है। पर यह मनोवृत्ति अन्याययुक्त तो है ही, भारतीय सास्कृतिक परम्परा के विपरीत भी है। जिस देश के साहित्याकाश मे 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' का मन्त्र अब भी गूज रहा है और जहा स्वय भगवान ने 'दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धन' का आदेश दिया हो, वहा अपनी श्रद्धा

के समस्त फूलो को सफलो, शक्तिशालियो और साधन-सम्पन्नो की पूजा मे ही बिखेर देना सर्वथा गलत है, अदूरदर्शितापूर्ण है और हमारे देश के भविष्य के लिए हानिकारक भी। सुप्रसिद्ध कवियित्री ईला विलकाक्स की वह कविता इस अवसर पर हमे याद आ रही है, जिसमे उन्होने असफलो को श्रद्धाजलि अर्पित की है। उस कविता का साराश यह है

"कीर्त्ति के शिखर पर विराजमान विजयी वीरो का गुणगान तो बहुत हो चुका है, उनकी स्मृति में अनेक गीतो की रचना हो चुकी है, आज मै उन निराश कवियो के गीत गाऊगी, जो अपने लक्ष्य पर पहुचने में असफल हो गये। आज मै उस धनुर्धारी की स्मृति मे चार आसू बहाऊगी, जो इस समय अन्धकार में खडा हुआ इस बात का अनुभव कर रहा है कि उसका अन्तिम और सर्वोत्तम तीर अपने निशाने पर नहीं पहुच सका। मै उन हृदयो के गीत गाऊगी,जो एकान्त में टूटा करते है, जिनके दुखो को दुनिया नहीं जान पाती, जिन्हें साथी की जरूरत है, जिन्हें अपना पथ अकेले ही चलना पडता है। . मै इस बात को जानती हू कि इस सूर्यमडल में कहीं-न-कहीं थोडा-सा स्थान, कुछ पुरस्कार, उस अभागे दौडनेवाले के लिए भी सुरक्षित होगा, जो थक गया और जीवन की दौड में विजय आते-आते जिसके हाथ से निकल गई। ईश्वर का यह सृष्टिक्रम सचमुच ही अधूरा रह जायगा, यदि इसमें कही-न कहीं उस परिश्रम, प्रतिभा तथा प्रेम के लिए, जो इस ससार में बिना किसी आदर के नष्ट हो जाते है, कोई पुरस्कार सुरक्षित न हो।"

हमारे इतिहासो मे—चाहे वे राजनैतिक हो या साहित्यिक—एक बडी भारी त्रुटि यह है कि वे प्राय विज्ञापितो को ही विज्ञापन देते रहे है। जिस कवि ने यह रचना की थी—

> सूर सूर तुलसी शशी उडुगन केशवदास,
> अबके कवि खद्योत-सम जहं-तह करत प्रकाश।

उसे यह पता नही था कि अनेक तारागण वस्तुत सूर्य और चन्द्र से कही अधिक बडे है और खद्योतो का भी अपना निजी महत्व है।

अब इस दृष्टिकोण मे परिवर्त्तन हो जाना चाहिए । खगोलशास्त्र, भौतिक विज्ञान और अर्थशास्त्र मे अब क्षुद्र-से-क्षुद्र को महत्व दिया जा रहा है। पहले के ज्योतिषी पृथ्वी को ही सबसे अधिक महत्व देते थे, तत्पश्चात् सौरमडल सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाने लगा और अब खगोलशास्त्रियो की दृष्टि मे परमाणुओ को ही सबसे अधिक महत्व दिया जाता है । अणु-बम की कथा तो अब जगत-विख्यात है। मनोविज्ञान मे भी अब क्षुद्रतम कोष (सेल) को महत्व देते है और अर्थशास्त्र तो अब ग्रामीणो की झोपडियो तक पहुच ही चुका है । अर्थशास्त्री अब एक-एक ग्राम पर निबन्ध लिखते है। ऐसी दशा मे इतिहास तथा साहित्य-क्षेत्र ही इस प्रगतिशील दृष्टि से क्यो वचित रहे ? हमारे साहित्यिक पूर्वजो अथवा समकालीन बन्धुओ ने जो साहित्यिक इतिहास लिखे है, तदर्थ हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ है । मिश्रबन्धु, प रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास इत्यादि के पथ-प्रदर्शक ग्रन्थो की महान उपयोगिता से कौन इन्कार कर सकता है ? पर अब युग बदल रहा है – बल्कि बदल गया है – और इतिहास लिखने की प्रणाली मे भी अब परिवर्तन अनिवार्य है। अब हमे अपने ऐतिहासिक भवन की नीव नीचे से रखनी होगी। प्रान्त-प्रान्त के ही नही, प्रत्येक जनपद और जिले तथा स्थान के साहित्य का ऐतिहासिक अन्वेषण करना होगा। असफलो तथा उपेक्षितो का इतिहास हमारे साहित्य के भविष्य के लिए भी लाभदायक होगा, क्योकि तब हम भूतकाल से शिक्षा ग्रहण कर अपनी मातृभाषा के होनहार लेखको तथा कवियो का मार्ग प्रशस्त कर सकेगे ।

यह बतलाने की आवश्यकता नही कि इतिहास लिखने की उस दूषित प्रणाली के लिए, जिसमे पहले राजाओ को और अब नेताओ, सेनापतियो तथा पदाधिकारियो को आवश्यकता से कही ज्यादा महत्व दिया जाता है, हमी लोग जिम्मेदार है। इतिहास लिखने का यह ढग बिलकुल अवैज्ञानिक है और पूर्णत हानिकारक भी। जन-साधारण मे वह दासत्व की भावना उत्पन्न करता है । जिस समय भगवान वेदव्यास ने गीता में

लिखा था—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।
स यत् प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

अर्थात्—"श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है, साधारण जन उसीका अनुसरण करता है। वह जिस चीज को प्रमाण मानता है, लोक उसीका अनुवर्त्तन करता है।" उस समय भारत मे कोई समाचार-पत्र नही थे और श्रेष्ठ का अर्थ 'विज्ञापन' हर्गिज नही था। आजकल जिस प्रकार राजनैतिक नेताओ को विज्ञापन दिया जाता है, उनके जुलूस निकाले जाते है, उनके छीकने तक की रिपोर्ट अखबारो मे छपती है, उससे जनता का दृष्टिकोण ही विकृत हो गया है। और जो चीज आज पत्रो मे छपती है, कल वही इतिहास बन जाती है! पर ससार मे राजनीति ही सबकुछ नही है। करोडो व्यक्ति इस जगत् मे रहते है। वे लाखो ही कार्य परोपकार के करते है। यह दुनिया उन्ही के आधार पर कायम है, पर उनकी रिपोर्ट पत्रो तक नही पहुचती। हिन्दी-ससार मे सैकडो ही लेखक अनेक कठिनाइयो का सामना करते हुए अपने कार्य मे सलग्न है। उनकी ओर हम लोगो का ध्यान प्राय बिलकुल नही है। कालेजो मे पढाये जानेवाले इतिहास मे उनका जिक्र हो ही नही सकता। जिस शिकजे मे कसकर ये इतिहास लिखे जाते है, उसमे सहृदयता को कोई स्थान ही नही। 'हृदय' नामक चीज को हमारे ये इतिहास-लेखक बिलकुल फालतू समझते है और 'भावुकता' को सर्वथा त्याज्य। इसलिए जिसे नवीन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखना हो, उसे पाठ्य-पुस्तक बनाने के प्रलोभन को सर्वथा तिलाजलि ही दे देनी पडेगी।

साहित्य का इतिहास अब सर्वदा स्वतत्र रूप से छोटे-छोटे केन्द्रो द्वारा होना चाहिए। उदाहरण के लिए आगरे-जिले के साहित्यिक इतिहास मे श्री लल्लूजीलाल, राजा लक्ष्मणसिह और प रामेश्वर भट्ट तथा सत्यनारायण कविरत्न इत्यादि का तो पूरा-पूरा वृत्तान्त होना ही चाहिए, वहा के खयालगो लोगो—रूपकिशोर, पन्नालाल प्रभृति—की भी साहित्य

सेवा का विस्तृत उल्लेख आवश्यक है। यही नही, हम तो ग्राम-गीतो के गायको का भी जिक्र जरूरी समझते हैं। ब्रिटिश सरकार ने जिस प्रकार प्रत्येक जिले का गजेटियर तैयार कराया था, क्या उसी प्रकार हम प्रत्येक जिले का साहित्यिक इतिहास तैयार नही करा सकते ? और यह इतिहास सकुचित दृष्टिकोण मे नही, व्यापक दृष्टिकोण मे तैयार होना चाहिए। आगरे के साहित्यिक इतिहास मे यदि नजीर अकबराबादी को छोड दिया जाय तो वह अधूरा ही माना जायगा। जिले के इतिहासो मे हमे यह मानकर ही चलना चाहिए कि उर्दू हिन्दी की एक शाखा ही है।

और हमारे इन इतिहासो मे यदि हृदय का स्पन्दन न हुआ तो वे निर्जीव ही सिद्ध होगे। आज भी ताजमहल के पास धाधूपुर ग्राम मे एक ध्वनि निकल रही है– 'भयौ क्यो अनचाहत को संग।' पर जिनके हृदय का रेडियो खराब हो चुका है, वे उसे कैसे सुन सकते हैं ? अभी कुछ समय पूर्व की ही तो बात है, एक कवि ने रात्रि के समय गुनगुनाया था.

अब तो जीवन में कोई भी आकर्षण न रहा
सूख गई सुख की वल्लरिया
कुम्हलाई कलशाली कलिया
समझे कौन बडी हलचल को
डूब रहे हम आज विकल हो
त्राण दिलाने वाला, अब तो कोई तृण न रहा।

और इन पक्तियो को लिखने के सोलह घटे बाद ही उसने आत्मघात कर लिया।[1]

आज से दस वर्ष पहले लश्कर (ग्वालियर) के अस्पताल मे एक हिन्दी कवि के पेट का आपरेशन हुआ था और उसीमे उनका देहान्त हो गया। किसी भी पत्र ने उनके विषय मे कुछ लिखा ही नही ! उस कविवर की वर्षो की साहित्य-साधना उसीके साथ विलीन हो गई ! स्वर्गीय

[1] ये पक्तिया स्वर्गीय शील चतुर्वेदी नामक युवक कवि की है, जिन्होने आत्मघात करके अपने जीवन का अन्त कर डाला था।

सीतारामजी 'साधक' की दो-चार कविताएँ मेरे पास सुरक्षित है। उनकी लिखी 'अतीत की स्मृति' आप भी सुन लीजिये—

जो तारे झिलमिल-झिलमिल कर देखा करते थे सपने,
जिन्हे देखकर मेरी भी, सखि, पलके लगती थी झँपने !
वह भी कहा रहे अपने !

वह मधुऋतु की मादक सन्ध्या, वह चादी-सी उजली रात,
वह किरणो का जाल मनोहर, वह सोने का मधुर प्रभात
जाने कहा गये अज्ञात !

सुन विहँगो की मधुर प्रभाती, निरख उषा की मृदु लाली,
जो मालिन ले जाती थी कुसुमो से भर-भर कर थाली !
आज खडी है वह खाली !

जिसे कभी मधु के प्यासे अलि, कुसुमो के प्यालो से पी,
मरते-मरते एक वार नवजीवन पा उठते थे जी !
ढुलक गई वह मदिरा भी !

वह पत्रो की मर्मर ध्वनि, सखि, वह कोयल का पचम स्वर,
कल-कल स्वर से वहता रहता था जो सूने मे निर्झर !
बन्द हुआ उसका भी स्वर !

क्या न कभी फिर से आयेगी फिर से कोयलिया काली ?
क्या न कभी आकर कूकेगी उपवन मे जीवन-लाली ?
कौन जानता है आली !

अभी दो वर्ष पूर्व समथर-राज्य के एक ग्राम-निवासी कवि की मृत्यु के समय उनके हाथ का लिखा हुआ एक पत्र, जो पद्य मे था, मेरे नाम पाया गया—

जैसी अबै लौं कृपा करी दीन पै, या से भविष्य में दूनी बतइयो।
जो अपराध भये मुझ ते ताको हू भल न चित्त में लइयो॥
औगुण कौ हृदयौ तो कहावत आप बडे करुणा को दिखइयो।
आशा मेरी कर दीजियो पूरण एक किताब अवश्य छपइयो॥

आप जरा कल्पना कीजिये उस गरीब कवि की, जिसकी एक भी पुस्तक अपने जीवन मे नही छपी और जो मरते समय अपनी यही अन्तिम आकाक्षा प्रकट करता है कि उसकी कम-से-कम एक किताव तो किसी तरह छप जाय ! और इस कवि को सात रुपये महीना मिलता था और उसकी वह नौकरी भी छूट गई थी। उसका नाम था श्री देवीदयालु गुप्त, और मरते समय उनकी उम्र ३५ वर्ष के करीव होगी। वन्धुवर हरिशकरजी शर्मा ने उनकी एक पुस्तिका 'वुन्देलखड' का सशोधन करके मेरे पास भेज दी थी और वह सौभाग्य से प्रकाशित हो गई है।

मैंने इस समय वुन्देलखड के ही उदाहरण दिये है, क्योकि मेरे क्षुद्र जीवन के अनेक वर्ष इसी जनपद मे वीते है। और तो और स्वर्गीय मुन्शी अजमेरीजी के समस्त ग्रन्थो को एक जिल्द मे हम लोग नही छाप सके। कविवर रसिकेन्द्रजी का काव्य-सग्रह नही छपा और कविवर घासीरामजी व्यास की सर्वोत्तम कवितायें भी सग्रहीत नही हुईं। किसी निष्पक्ष साहित्यिक की तराजू पर इन कवियो की--मेरा अभिप्राय मुन्शीजी, रसिकेन्द्रजी तथा व्यासजी से है--रचनाए हिन्दी के अनेक विज्ञापित कवियो की रचनाओ से अधिक गम्भीर ही वैठती, पर साहित्य-जगत् ने इन लोगो की प्राय उपेक्षा ही की और उनके परिचितो अथवा भक्तो द्वारा भी वे प्राय विस्मृत ही हो गए ! यदि हम लोग इतना भी कर सकते कि इन कवियो के सस्मरणो का सग्रह करके प्रकाशित कर देते, साथ मे उनकी सर्वोत्तम रचनाओ के कुछ उदाहरण भी दे देते, तो हिन्दी-ससार उनकी अभिलाषाओ तथा आकाक्षाओ से कुछ तो परिचित हो जाता।

सुप्रसिद्ध कल्पनाशील अग्रेज लेखक एच. जी वेल्स ने अपनी पुस्तक 'दि शेप आव थिंग्स टु कम' (भावी ससार का रूप) मे सन् दो हजार ईस्वी के वाद साहित्यिको के सुपुर्द यह काम किया है कि वे अनुसधान करके गत पीढियो की मानसिक अवस्था का चित्र तैयार करे। क्यो न हम लोग पचास वर्ष पहले से ही उस महान कार्य को प्रारम्भ कर दे ? यह कार्य दो प्रकार से हो सकता है एक तो सन् १८५७ से लेकर १९४९ तक के

साहित्यिको के जीवन-चरित्त, रेखाचित्र, पत्रव्यवहार इत्यादि के द्वारा पिछले सौ वर्षों का सजीव इतिहास तैयार किया जाय और दूसरे वर्त्तमान साहित्य-सेवियो की मनोदशा का पूरा-पूरा विवरण रखा जाय । दुर्भाग्य की वात है कि हम लोगो ने कितने ही अमूल्य अवसर अपने हाथ से चले जाने दिये। इनमे हमारा प्रमाद, सकोच ओर अदूरदर्शिता, ये सभी कारण रहे है ।

यह हमारी गुलामी की विरासत ही है कि आज भी हमारा दृष्टिकोण राजनैतिक दलवन्दियो, चुनावो, पदो के लिए झगडो और तिकडमवाजियो से विकृत वना हुआ है। अव इस सकुचित दृष्टिकोण को व्यापक वनाना है। जीवन के विविध अगो, विभिन्न आकाक्षाओ, शुभ सकल्पो ओर पुण्य कार्यो की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करना है । बिना श्राद्ध-कर्म किये जो लोग भोग करते है, वे वास्तव मे पाप करते है। सन् १९६५ मे राष्ट्रभाषा के पद पर पूर्णरूपेण आसीन होने के पूर्व हमारी भाषा के उपेक्षित साहित्यिको का इतिहास तैयार हो जाना चाहिए । जिस किसी महान साहित्यिक का जीवन-चरित हम लिखे, उसके समकालीन व्यक्तियो के भी छोटे-मोटे रेखाचित्र उसीके साथ देते जाय ।

यदि हम लोग इस उम्मीद मे वैठे रहे कि वडी-वडी सस्थाएँ या नामी-गरामी लेखक या दिग्गज पत्रकार ही इस कार्य को उठावेगे तो यह कार्य कभी भी सम्पन्न नही होगा । गगामाता गगोत्री से निकलती है और जमना-मैया जमनोत्री से । पर इस साहित्य-गगा का उद्गम-स्थल भावनापूर्ण तथा श्रद्धायुक्त हृदय ही है, और वे इस विस्तृत भूमि के किसी भी जनपद मे पाये जा सकते है । यदि विभिन्न जनपदो के निवासी हिन्दी-लेखक, कवि और पत्रकार इस वात का निश्चय कर ले कि हम अपने स्थान या जिले के विस्मृत अथवा उपेक्षित साहित्य-सेवियो की कीर्ति-रक्षा का भरपूर उद्योग करेगे तो पास-पडोस के पत्रो, प्रकाशको और साहित्यप्रेमी व्यक्तियो से उन्हे सहायता मिल ही जायगी । साप्ताहिक पत्रो के साहित्यिक कालमो, मासिक पत्रो, विशेषाको और अभिनन्दन-ग्रन्थो का उपयोग इन पुण्य कार्यो के लिए हो सकता है ।

हमे प्रान्तीय, जनपदीय और निजी सग्रहालयो के महत्व को जनता को समझाना है। पुरानी चिट्ठियो, समाचार-पत्रो और डायरियो की रक्षा का कार्य तो हमे तुरन्त प्रारम्भ कर देना चाहिए। विना इन चीजो की मदद से हमारे इतिहास विलकुल शुष्क और निर्जीव वने रहेगे। ये चीजे दिनोदिन नष्ट होती जा रही है। वन्धुवर हरिशकर शर्मा के यहा श्रद्धेय नाथूराम 'शकर' के ज़माने का जो वहुत-सा पत्र-व्यवहार सुरक्षित था, वह नष्ट हो गया। सुना है कि स्व राधाचरणजी गोस्वामी के सग्रहालय का पत्र-व्यवहार भी सुरक्षित नही रह सका! अभी कुछ वर्ष पूर्व तक 'भारतमित्र' की पुरानी फाइले सुरक्षित थी। पर अव एक महानुभाव ने उन्हे नष्ट करके रद्दी मे फेक दिया! अभी हमने किसी पत्र मे पढा था कि डाक्टर जान्सन के जीवन-चरित के लेखक बौसवेल का वहुत-सा पुराना पत्र-व्यवहार मिल गया है और विलायत मे यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्यिक घटना मानी जाती है। उधर रूस मे तुर्गनेव तथा चैखव और टाल्स्टाय की कुछ चिट्ठिया मिली है और उनका ज़िक्र लन्दन के 'टाइम्स' के साप्ताहिक सस्करण मे किया गया है। हमारे यहा इस प्रकार के अनुसधान-कार्य का शायद श्रीगणेश ही नही किया गया है।

युग-धर्म के अनुकूल हमे अपने साहित्यिक जीवन की फिलासफी मे भी परिवर्त्तन करना है। कौन कहता है कि आप कवीन्द्र रवीन्द्र की उपासना न करे? और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तो हम सभी के लिए पूज्य है ही। हमारा निवेदन केवल इतना ही है कि हम साहित्याकाश के विधिवत् अध्ययन के लिए अपनी दूरवीन को भी अच्छा वनावे। महात्मा गाधी ने छोटी-सी तकली मे वडी-वडी मिलो के दर्शन किये थे। उन्होने अपने १ अगस्त, १९४१ के भाषण मे, जो सेवाग्राम मे दिया गया था, कहा था—"तकली मे जो अपार शक्ति भरी है, उसका ज्ञान मुझे एक अग्रेज ने कराया। उसका नाम जीन्स है। वे एक वडे खगोलशास्त्री थे और उन्होने वहुतसी कितावे लिखी है। उन्होने 'यूनीवर्स इन द एटम' नाम की एक किताव लिखी है। उसमे से मैने 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का वैज्ञानिक वर्णन पढा, तव मै हैरान

हो गया। हमारे लिए तकली एक एटम है। उसीके अन्दर मिल भरी पडी है, और जो चीज मिल सिखा सकती है, वह तकली भी सिखा सकती है।"

इसी सिद्धात से छोटे-से-छोटे साहित्य-सेवी की आकाक्षाओ मे भी हम समस्त हिन्दी-जगत् के भविष्य का प्रतिविम्व देख सकते है, यदि हममें सहृदयता, विवेक और सूक्ष्म दृष्टि हो। हमने सुना है कि महात्माजी वडी-वडी नदियो के वाध वनवाने और उनसे नहर निकालने के उतने पक्षपाती नही थे, जितने कि ग्राम-ग्राम मे तालाव वनवाने के। भले ही लोग साहित्य के वडे-वडे वाध काशी, प्रयाग, पटना, कलकत्ता इत्यादि स्थानो मे वनवावे उनकी उपयोगिता से हमे इन्कार नही, पर हम तो साहित्य-सरोवर के पक्षपाती है। ये साहित्यिक पुष्करणिया स्थान-स्थान पर कायम हो सकती है और आसपास के जीवन को सरस तथा हरा-भरा वना सकती है। हमारे विश्वविद्यालय, कालेज और स्कूल इस दिशा मे वहुत काम कर सकते है। क्या ही अच्छा हो, यदि प्रत्येक 'साहित्यरत्न' अथवा एम ए (हिन्दी) के विद्यार्थी से पहले उसके जिले या जनपद के साहित्यिक इतिहास पर एक निवन्ध लिखा लिया जाय और तत्पश्चात् उसे डिग्री प्रदान की जाय। यदि हमारे हिन्दी-प्रोफेसरो तथा अध्यापको का ध्यान इस प्रश्न की ओर आकृष्ट हो जाय तो पाच-सात वर्षो मे ही हिन्दी के अनेक उपेक्षित लेखको तथा कवियो के जीवन-चरितो अथवा रेखाचित्रो का मसाला इकट्ठा हो सकता है। सच्ची सस्कृति वडे-वडो की पूजा करने मे उतनी नही, जितनी छोटे-छोटो को प्रोत्साहन देने मे है। सच्चे फिलासफर वही है, जो वूद मे समुद्र का दर्शन कर सकते है और दरअसल विनम्र वही है, जो असफलो का अभिनन्दन करने मे गौरव का अनुभव करे।

: ८ :

# कण्ठ की स्वाधीनता

## ( १ )

किसी भी सजीव पत्रकार या लेखक के लिए सबसे अधिक आवश्यक वस्तु क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर दो शब्दो मे दिया जा सकता है—'कण्ठ की स्वाधीनता।' और यह सबसे ज्यादा दुर्लभ भी है। इग्लैड-जैसे स्वाधीनता-प्रेमी देश मे भी एक दर्जन से भी कम पत्रकार ऐसे निकलेगे जिनका कण्ठ स्वाधीन हो। "जिसका खाना उसका गाना" ही जिनके जीवन का आदर्श वाक्य है, उनका ही बाहुल्य इस वृत्ति मे है।

पत्रकारिता वृत्ति है या मिशन ? इस विवादग्रस्त प्रश्न को यहा उठाने की जरूरत नही और न हमे उन भाइयो पर जज बनकर बैठना है जिन्हे मजबूरन पत्रकारिता को पेशे की तरह अगीकार करना पडा है। यह भी हम जानते है कि मानव-जीवन मे पग-पग पर समझौते करने पडते है और अनेक बार ऐसे अवसरो पर भी मौन रहना पडता है जब खुलकर बोलना ही अपना प्रथम कर्त्तव्य है। पर अपना कल्याण इसी मे है कि हम दम्भ न करे—

ऐब यह कि करो ऐब हुनर दिखाओ,<br>
वर्ना यां ऐब तो हर फर्देबशर करते है।

कण्ठविरोध के अभिशाप को हम भली-भाति जानते है और उसके दमघोटू वातावरण मे हमे अनेक वर्ष रहना पडा है। राजाश्रय मे रहने वाला कोई भी लेखक, चाहे वह आश्रय सुसस्कृत-से-सुसस्कृत शासक का क्यो न हो—कण्ठ की स्वाधीनता का उपभोग नही कर सकता। ऐसे अवसर आते है, जब किसी अग्रेजी कवि की यह उक्ति याद आती है—"जब सत्य की

वलिवेदी पर जीवन-दान ही मनुष्य का कर्त्तव्य हो, उस समय जीवन-रक्षा ही नर्क है।"

जब भीष्म पितामह को भी 'अर्थस्य पुरुषो दास' (आदमी रुपये का गुलाम है ) कहकर द्रौपदी के चीर-हरण के समय मौन रहना पडा तो फिर हमारे-जैसे क्षुद्र पत्रकार को यदि समझौता करना पडे तो उसमे कुछ आश्चर्य की वात नही। पर हमे वही आदर्श अपनी आखो के सम्मुख रखना चाहिये, जिसमे अन्तरात्मा की ध्वनि को ही सर्वोच्च स्थान दिया गया हो।

पत्रकार-शिरोमणि नैविनसन की तरह के जर्नलिस्ट विलायत मे भी थोडे ही हुए है। अपने कण्ठ को उन्मुक्त रखने के लिए नविनसन और ब्रेल्स-फोर्ड मैसिघम तथा ए जी गार्डिनर को काफी तपस्या करनी पडी। स्वय भारतवर्ष मे मोतीलाल घोप, रामानन्द चटर्जी, सी वाई चिन्तामणि, वालमुकुन्द गुप्त, वालकृष्ण भट्ट, महावीर प्रसाद द्विवेदी और गणेशशकर विद्यार्थी को इस स्वाधीनता के लिए अनेक कष्ट सहने पडे।

सुना है कि स्व मोतीलाल घोप ने तत्कालीन प्रिंस ऑव वेल्स से कह दिया था—"देश में एक पत्रकार तो ऐसा रहने दीजिये, जो आपके देशवासियो के शासन की निष्पक्ष तथा खरी आलोचना कर सके।" चिन्ता-मणिजी ने वम्बई के 'डेली मेल' का सम्पादन विचारो की स्वाधीनता के लिए ही छोड दिया। वालमुकुन्द गुप्त की नौकरी श्रीमान् कालाकाकर-नरेश ने इसलिए छुडा दी थी कि वह 'हिन्दुस्थान' मे सरकार के खिलाफ वहुत लिखते थे। खुदीराम वोस के विपय मे भापण देने पर भट्टजी से जवावतलव किया गया और इसीपर उन्होने त्यागपत्र दे दिया। स्व रामा-नन्द वावू ने तो जीवन-भर अपने स्वाधीन विचारो की रक्षा की और इस विपय मे उनका उदाहरण केवल भारत के ही नहीं, विश्व के सम्पादक-समुदाय में एक अत्युच्च स्थान पायेगा। द्विवेदीजी तथा गणेशजी के महान् कार्यों से हिन्दी पाठक भली-भाति परिचित ही है।

जनतन्त्र के विधिवत् सचालन के लिए यह निहायत जरुरी है कि उन्मुक्त कण्ठवाले पत्रकार इस देश मे अधिक-से-अधिक हो। जिनके हाथ

मे सत्ता है उनका समर्थन करनेवाले व्यक्ति तो बहुत मिल जाते है, पर "अप्रियस्य च सत्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभ ।" इसके सिवाय जब अपना देश गलत रास्ते पर जा रहा हो उस समय देश के नेताओ का विरोध करने की शक्ति अल्पसख्यक व्यक्तियो मे ही हो सकती है। धार के साथ बहने मे कुछ श्रम नही पडता, जबकि धार के विरुद्ध दो-चार हाथ भी आगे बढना हिम्मत का काम है। नैविनसन मे वह हिम्मत थी, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज मे वह साहस था।

बहुमत सदा ठीक ही हो, ऐसी बात नही। प्राय वह गलत भी होता है और बहुमत का विरोध करनेवाले को अपनी छीछालेदर के लिए तैयार रहना ही चाहिए। यही गनीमत है कि उसका सिर न फोड दिया जाय। ठीक मार्ग पर जानेवाले अल्पसख्यको का साथ जो नही दे सकते वे वस्तुत दास-मनोवृत्ति के है।

तानाशाही मे विश्वास रखनेवाले व्यक्ति कण्ठ की उन्मुक्तता कदापि सहन नही कर सकते। उनकी समझ मे हर व्यक्ति बिक्री के लिए है और खरीदा जा सकता है।

इस दुनिया मे बहुत-से दृश्य करुणोत्पादक है, पर उन सबमे सबसे हृदयवेधक दृश्य उपस्थित करता है वह पत्रकार, जिसने अपने पापी पेट के लिए किसी को अपनी कलम बेच दी हो। जिन देशो मे तानाशाही विद्यमान है वहा कण्ठ की उन्मुक्तता सर्वथा अप्राप्य है।

एक बार किसी सुप्रसिद्ध पत्रकार ने, जो एक मनचले पूजीपति के किसी पत्र मे काम करते थे, अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध अछूतोद्धार के विपक्ष मे लेख लिख दिया था। गाधीजी उनसे भली-भाति परिचित थे। उन्होने पत्रकार महोदय को बुलाकर कारण पूछा तो उन्होने अपनी कमजोरी स्वीकार करते हुए कहा—"क्या किया जाय, पेट के लिए सब कुछ करना पडता है।"

इसपर महात्माजी ने कहा—"इस आत्मविघातक पत्रकारिता को छोडकर इस महानगर की गलियो मे भीख क्यो नही माग लेते? यह कार्य

अपेक्षाकृत कम अगौरवजनक होगा।"

एक ऐसे ही अन्य पत्रकार-वन्धु ने जब महात्माजी से कहा "वापू, मुझे जिन्दा तो रहना है" तो उन्होने उत्तर दिया-"किसलिए ?" उनका अभिप्राय यही था कि ऐसी जिन्दगी से मौत वेहतर है।

जिन पत्रकारो से यह उम्मीद की जाती है कि वे देश की जनता का उचित रूप से पथ-प्रदर्शन करे, उनकी शिक्षा-दीक्षा का कोई उचित प्रवन्ध इस देश मे नही है। इजीनियर वनने के लिए लोग कई वर्ष तक अध्ययन करते है, डाक्टरी भी ५-६ वर्ष पढाई जाती है, पर सम्पादक 'जन्म-जात' और 'स्वयभू' होते है। ऐसे पत्रकार यदि 'क्षुद्रत्व की भावना' के शिकार हो तो उसमे आश्चर्य ही क्या!

वैसे तो प्रत्येक प्रभावशाली पत्र के कार्यालय मे पत्रकार-कला-सम्वन्वी साहित्य होना चाहिए, पर यदि यह सम्भव न हो तो प्रत्येक प्रान्त मे एक पुस्तकालय तो ऐसा होना चाहिए, जिसमे इस विपय का पूरा-पूरा मसाला मिल सके। हमारी वृत्ति या मिशन के अनुयायियो ने सत्य के पथ पर चलते हुए किन-किन कठिनाइयो का सामना किया, यह वात हमारे लिए वहुत स्फूर्तिप्रद हो सकती है। जिस पत्र के आफिस मे सपादकाचार्य सी पी स्काट अथवा रामानन्द चट्टोपाध्याय या गणेशशकर विद्यार्थी के जीवन-चरित न हो, उसे हम अपूर्व ही मानेगे। त्याग और वलिदान के दृष्टात हमे प्रोत्साहन प्रदान करेगे। कठ की उन्मुक्तता के लिए जिन पत्रकारो ने अनेक कष्ट सहे, उनके उदाहरण हमे अपने कटकाकीर्ण पथ पर चलने मे सहायक होगे। देश को स्वाधीन-चेता पत्रकारो की जितनी आवश्यकता आज है उतनी पहले कभी न थी।

(२)

आज के युग का तकाजा है सहस्रो सजीव केन्द्रो का निर्माण। दुनिया के दो अरव आदमियो की रुचि भी भिन्न-भिन्न होनी ही चाहिए और जगत् का कल्याण इसीमे है कि मनुष्य अपनी रुचि के आदमियो के साथ रहे। रुचि और उद्देश्यो की विभिन्नता के कारण इन केन्द्रो मे सघर्ष भी

अनिवार्य है; पर ये संघर्ष जिन्दगी के लक्षण के रूप मे माने जाने चाहिए। वैसे इन केन्द्रो का सघ इनमे पारस्परिक सहयोग की भावना उत्पन्न कर ही देगा।

हम लोगो के लिए, खास तौर पर लेखको के लिए, इससे अधिक दयनीय स्थिति हो ही नही सकती, जवकि हमे अपने विचारो, इच्छाओ, उद्देश्यो तथा सिद्धातो के प्रतिकूल वायुमडल मे काम करने के लिए मजबूर होना पडे। महाकवि तुलसीदास ने कहा है—"चोर नारि जिमि प्रकट न रोई" और आज हम लोगो मे से अधिकाश की स्थिति 'चोर नारि' की तरह की हो गई है। इस लज्जाजनक परिस्थिति से लेखको और पत्रकारो को निकलना है और इसका एकमात्र उपाय यह है कि हम अपने आपको स्वस्थ, सजग और चारो ओर की परिस्थिति तथा वायुमडल के प्रति खुला रक्खे। शारीरिक क्षय की तरह आत्मा का भी क्षय हुआ करता है और उन्मुक्त वातावरण मे विचरण करना शरीर तथा आत्मा दोनो के लिए कल्याणकारी है।

किसी भी सजीव साहित्यिक के लिए साहित्य और राजनैतिक नाम की दो चीजे अलग-अलग हो ही नही सकती। इनमे भेद करना जीवन को एकागी वना देना है। रोम्या रोला ने एक जगह लिखा है—

"जो कोई मानव-समाज के भविष्य के लिए युद्ध करना चाहता है उसे राजनैतिक क्षेत्र मे युद्ध करना चाहिए, पर अपने मस्तिष्क की स्वाधीनता को किसी भी हालत मे न छोड़ना चाहिए, क्योकि मानसिक स्वाधीनता ही उसे युद्ध-क्षेत्र पर हावी वनाये रखेगी।"

पर 'मानसिक स्वाधीनता' कोई ऐसी चीज नही, जो आसानी से मिल सके। इसके लिए निरन्तर त्याग, तप और सघर्प की जरूरत है। दुनिया मे आज अनेको शक्तिया ऐसी पाई जाती है, जो जवरदस्ती सवको अपने ढग पर ढालने मे ही विश्व-कल्याण मानती है। उन शक्तियो से समझौता करके—अपने आपको वेचकर—कोई भी लेखक मजे मे अपनी जिन्दगी गुजर कर सकता है, पर वह जीवन घासफूस की तरह का होगा।

विचारो की स्वाधीनता को हम सबसे उच्च स्थान देते है। लक्ष्य हमारा यही होना चाहिए कि जो भी हम उचित समझे उसे दृढतापूर्वक कह और लिख सके। लेखक मे आवाज की बुलन्दगी या 'टोन' की सच्चाई का अभाव वैसा ही है जैसे नमक मे से नमकीनपन का निकल जाना। किसी पार्टी-विशेष मे शामिल होने के मानी है अपने मुह पर ताला लगा लेना।

कोई भी सरकार, चाहे वह विदेशी हो या स्वदेशी, विचारो की स्वाधीनता को एक खास सीमा तक ही सहन कर सकती है, इसलिए प्रत्येक सजीव लेखक को बरबस राजनैतिक क्षेत्र मे आना ही पडेगा। जो भी लेखक अनाचारो तथा अत्याचारो के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द करेगा, उसे जान-बूझकर लडाई मोल लेनी पडेगी। जो भी लेखक सघर्ष से अपने को बचाना चाहेगा, वह अपने आपको निर्जीव बना डालेगा।

अपने व्यक्तित्व को सजीव बनाये रखने का सर्वोत्तम तरीका है निरन्तर दानशीलता। यदि हम अपना समय, शक्ति और धन, अगर वह हमारे पास है तो, सुपात्रो को देते रहे अथवा सत्कार्यो मे व्यय करते रहे तो हम अपने यौवन को बनाये रख सकते है।

**निरन्तर करते रहना दान, इसी को कहते है यौवन।**
**बुढापा कजूसी का नाम, जगत् में बुरा हिसाबीपन॥**

कब जनता के निकट सम्पर्क मे आना अथवा कब मौन रहकर एकान्त मे कार्य करना यह किसी सजीव लेखक की इच्छा पर निर्भर रहना चाहिए। प्राचीन काल के लेखक तपोवनो मे रहकर अपने सर्वोत्तम विचार जनता से प्राप्त करते थे, पर आज उल्टी स्थिति हो गई है। लेखक शासको के ही नही, धनाढ्य व्यापारियो के भी गुलाम बन गये है। जब कभी भी हम अपने अधिकारो और अपनी सुविधाओ को प्रथम स्थान देगे तभी उलझने पैदा हो जायगी।

बात यह है कि दुनिया के साधारण आदमी अपने हित को सबसे आगे रखते है। यदि लेखक उनके धरातल पर उतर आवेगा तो वैसी ही धक्कमपेल होगी, जैसी तीसरे दर्जे की खिडकियो पर रेल का टिकट

लेते वक्त होती है ।

सत तुलसीदास कह गये है—

**'जो इच्छा करिहौं मन माहीं,**
**राम कृपा कछु दुर्लभ नाहीं ।'**

यदि हम विश्व की सहायक शक्तियो की धारा के साथ अपनी आकाक्षाओ को मिला सके तो हमारी अभिलाषाओ की पूर्ति आसानी से हो सकती है। सारी मुश्किल इस बात की है कि हम लोग दृढतापूर्वक किसी भी चीज की इच्छा नही कर पाते ।

विलायत की एक सजीव लेखिका ऐथिल मेनिन ने आत्म-चरित मे लिखा है, "इच्छा की जवरदस्त आकर्षण-शक्ति मे मेरा सदा से ही दृढ विश्वास रहा है । जिस चीज के प्राप्त करने की मैने इच्छा की है, वह अन्त मे मुझे मिल ही गई है । हा, उसे वनाये रखने की वात दूसरी है । इसमे कोई अन्ध-विश्वास की बात नही—अगर कोई आदमी पूर्ण शक्ति के साथ किसी चीज की अभिलाषा करता है तो अन्त मे वह उसे मिल ही जाती है। इसका कारण यही है कि उसके विचार तथा कार्य, चेतन तथा अचेतन अवस्था मे जागते तथा सोते, उसी उद्देश्य के प्रति प्रेरित होते रहते है, और अचेतन अवस्था मे ध्येय के प्रति फैके या खिचे जाने मे जवरदस्त शक्ति है । अधिकाश व्यक्तियो के साथ एक वडी भारी मुश्किल है, वह यह कि वे यही नही समझ पाते कि आखिर वे अपने जीवन से चाहते क्या है, और जव कभी इस विषय मे उन्हे थोडा-सा ज्ञान होता भी है, तो उत्साह तथा दृढतापूर्वक वे इच्छा ही नही कर पाते ।" अपने अनुभव से हम उपर्युक्त कथन का समर्थन कर सकते है । आज से तेईस-चौवीस वर्ष पहले हमने एडवर्ड कार्पेण्टर की 'माई डेज एड ड्रीम्स' (मेरे दिन और स्वप्न) नामक पुस्तक मे झरने के निकट उनकी कुटी का एक चित्र देखकर किसी जलप्रपात के निकट रहने की इच्छा की थी। वह इच्छा पन्द्रह-सोलह वर्ष वाद जाकर पूर्ण हुई । इसलिए हम तो आशावादी है ।

: ९ :

# साहित्य-सेवा का राजमार्ग

यह समाचार, कि आगरे के एक साहित्यरत्न महानुभाव स्वाधीनता-दिवस के अवसर पर आत्मघात करने जा रहे थे, उसकी पूर्व-सूचना उन्होने श्रीमान पन्तजी को भेज दी थी और परिणामस्वरूप उत्तर-प्रदेशीय सरकार ने उन्हे गिरफ्तार कर लिया, वास्तव मे खेदजनक तथा विचारोत्तेजक है। इसके पहले एक अन्य साहित्यरत्न बन्धु ने भारत के एक अत्युच्च पदाधिकारी से प्रश्न किया था—

"क्या आपकी सरकार मेरे लिए कुछ कर सकती है? अथवा मुझे भी लाचार होकर शील चतुर्वेदी* के पथ का अनुसरण करना होगा?"

किसी के ऊपर न्यायाधीश बनकर बैठना हमारा काम नही। कोई हृदयहीन व्यक्ति ही ऐसी धृष्टता कर सकता है। जबतक हम उन भाइयो की विशेष परिस्थिति से परिचित न हो तबतक उन्हे परामर्श ही क्या दे सकते है, और फिर कोरे परामर्श से अत्यन्त निराश तथा क्षुधा-पीडित व्यक्तियो का कुछ हित भी हो सकता है? सलाह-मशविरा रोटी का स्थान नही ले सकते। इसलिए ये पक्तिया किसी व्यक्ति विशेष की आलोचना की दृष्टि से नही लिखी जा रही।

इतना तो स्पष्ट ही है कि साहित्य-जगत् मे एक प्रकार की निराशा-सी फैली हुई है और कितने ही साहित्य-सेवी सरकार से यह उम्मीद रखते है कि वह हमारे व्यक्तिगत प्रश्नो को हल कर दे। चूकि सरकार शक्ति तथा साधन-सम्पन्न है—सैकडो नौकरिया भी उसके हाथ मे है—

* हिन्दी के उदीयमान कवि, जिन्होने रेल के नीचे कटकर आत्मघात कर लिया था।

इसलिए यह स्वाभाविक है कि साहित्यिक बन्धु सरकार से कुछ आशा रखे, पर है यह डूबते को तिनके के सहारे की तरह ही।

हम यह मानते है कि साहित्य-सेवियो का कुछ हित अप्रत्यक्ष रूप से सरकारो द्वारा हो सकता है। कापीराइट के नियमों मे सशोधन करके, ग्रन्थमालाओ तथा पत्रो के लिए पोस्टेज मे कमी करके और श्रमजीवी पत्रकारो के सगठनो को सहायता देकर हमारी सरकार साहित्य-जगत की कुछ-न-कुछ सेवा कर सकती है; पर उसकी एक सीमा है। सामूहिक रूप से कोई भी सरकार साहित्यिको के प्रश्नों को हल नही कर सकती। यदि हमारी सरकार अयोग्यो को आश्रय देकर निराशामय अंधकार को और भी गहरा न करे तो यह भी उसकी बडी सेवा मानी जानी चाहिए। हां, किसी बूढे, अपाहिज अथवा बीमार साहित्य-सेवी को कुछ आर्थिक सहायता भी सरकार द्वारा मिल सकती है, कभी-कभी पुरस्कार या पारितोषिक भी दिये जा सकते है, पर इनसे हमारे प्रश्न हल नही हो सकते। रोग के ये इलाज नही, अल्पकालीन मरहमपट्टी भले ही हो। हमे अपने प्रश्नों पर स्वय ही विचार करना है।

पहले सरकारी नौकरियो को ही लीजिये। यदि हिसाब लगाकर देखा जाय तो पता लग सकता है कि वे सरकारी नौकरियां, जिनमे कोई साहित्य-सेवी खप सकता है, अल्पसंख्यक ही है और उनके मुकाबले मे साहित्य-सेवियो की तादाद बहुत ज्यादा है। जो नौकरी सौ आदमियो मे केवल एक को ही मिल सकती है, उसके पाने की उम्मीद रखना निराशा तथा दु ख को निमत्रण देना है।

साहित्य-जगत् के निराशामय वातावरण को दूर करने का प्रश्न इतना गम्भीर है कि इसपर सामूहिक रूप से विचार करने की आवश्यकता है। साहित्य-सेवी कोई विशिष्ट जन्तु नही है और उसके प्रश्न भी देश के अन्य सर्वसाधारण के प्रश्नो से सम्बद्ध है। हम लोग अपने लिए कोई विशेष सुविधाए नही माग सकते। सामाजिक जीवन के लिए जो-जो कार्य आवश्यक है, उनमे भाग लिये बिना न तो हमारे प्रश्न हल हो सकते है और न हमे आत्म-संतोष

मिल सकता है ।

एक बार रोम्या रोला से हमने यह निवेदन किया था कि आपने अपने जीवन की दु खमय घडियो मे किस प्रकार सान्त्वना प्राप्त की है, तो उन्होने उत्तर दिया था कि वे समय की प्रगतिशील धारा के आगे रहकर अपने चित्त को शान्त रखते रहे है । रोम्या रोला ससार-प्रसिद्ध लेखक थे, पर उनके जीवन मे भी निराशा की घोर घटाए आई थी । उनका गृह-जीवन नष्ट हो गया था और अनेक मित्रो ने उनके साथ विश्वासघात किया था । उनके देशवासी उनपर अविश्वास करने लगे थे, क्योकि ससारव्यापी युद्ध के जमाने में वह शान्ति का उपदेश देते थे और अन्त मे तो उन्हे फासिस्ट अधिकारियो द्वारा कैद कर लिया गया था । यह बतलाने की आवश्यकता नही कि अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे वह साम्यवाद के बहुत कुछ समर्थक बन गये थे ।

हमारे कहने का अभिप्राय यह नही है कि हम लोग भी सर्वांश मे उनके पथ का ही अनुसरण करे । यह प्रश्न रुचि-वैचित्र्य का है । कोई लेखक सर्वोदय सघ मे काम कर सकता है, किसी को समाजवादी दल के सहयोग से शान्ति मिल सकती है और कुछ मनचले साम्यवादी पार्टी मे भी शामिल हो सकते हैं । कुछ अपने व्यक्तित्व को किसी भी दल मे लीन न करके साधारणत कुछ काम कर सकते हैं । हमारा कहने का अभिप्राय यही है कि सामूहिक सघर्ष मे भाग लिये बिना हमारी आत्मा को सतोष मिल ही नही सकता । वर्तमान समाज-व्यवस्था मे परिवर्तन लाये बिना हमारे प्रश्न हल नही हो सकते । उस युग के आने मे अभी बहुत देर है, जबकि हम सब-को अपनी-अपनी रुचि के अनुसार काम मिलेगा । "प्रत्येक आदमी से उसकी योग्यतानुसार काम लिया जाय और उसकी जरूरत के मुताबिक उसके भरण-पोषण का इन्तजाम किया जाय"—इस सिद्धान्त का पालन क्रोपाटकिन के अराजकवादी युग मे या बापू के रामराज्य में ही हो सकता है । इसलिए पहला उपाय तो है प्रगतिशील शक्तियो के साथ रहना, पर इसके भी पूर्व हमें अपनी जीविका का सवाल हल करना है ।

हममे से ९५ फीसदी के लिए यह जरूरी है कि हम अपनी जीविका के लिए या तो किसी स्कूल मे अध्यापकी करे, किसी आफिस मे क्लर्की या फिर ट्यूशन करके अपनी गुजर-वसर करे। वाकी वचे वक्त में हम लोग माता सरस्वती की आराधना कर सकते है।

निराशा का प्रश्न मनोवैज्ञानिक भी है। आसपास के वातावरण मे आनन्द तथा उल्लास को लाकर, कुछ अशो मे ही सही, हम इस प्रश्न को हल कर सकते है। उदाहरणार्थ पाक्षिक साहित्य-गोष्ठी को ही लीजिए। यदि हम लोग समय-समय पर मिलते रहे और अपने दु ख-सुख की वाते एक-दूसरे से कहते रहे तो दिल का भार कुछ तो हलका हो ही सकता है। इन गोष्ठियो मे लेखको तथा कवियो को आत्मप्रकटीकरण के अवसर भी मिल सकते है। अच्छी रचनाओ की दाद मिल सकती है। नवयुवक साहित्य-सेवियो के लिए तो प्रोत्साहन अनिवार्यत आवश्यक है।

कभी-कभी प्राकृतिक सुन्दर स्थलो की यात्राए करके मनोरजन भी किया जा सकता है। हमे अपने नीरस जीवन मे रस का संचार करना है और रस की वूदे जहा भी, जितनी भी, मिल सके इकट्ठी करनी है।

हमारी साहित्यिक सस्थाए निस्सन्देह वहुत-कुछ काम कर सकती थी, पर वे प्राय इस ओर से उदासीन है। नेतागिरी, पदलोलुपता और राजनैतिक चालो द्वारा सत्ता हडपने की जो प्रवृत्तिया इन सस्थाओ मे पाई जाती है, उनसे किसी भी सच्चे साहित्य-सेवी का दम घुट सकता है। परिणाम यह हुआ है कि इन सस्थाओ के पास दो-चार भी ऐसे कल्पनाशील साहित्यिक नही है जो अपना सम्पूर्ण समय साहित्य-जगत् की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियो के अध्ययन अथवा सचालन के लिए व्यय कर सके।

हा, वयोवृद्ध अनुभवी साहित्यिक भी इस निराशामय परिस्थिति के निवारण मे कुछ सहायक हो सकते है।

यदि हम ससार के प्रसिद्ध साहित्य-सेवियो के जीवन-चरितो का अध्ययन करे तो हमे पता लग जायगा कि उनमे से अधिकाश के जीवन सघर्पमय रहे थे। साधन-सम्पन्न साहित्य-सेवियो की सख्या तो अत्यल्प

ही रही है ।

हम साहित्यसेवियो को अपने जीवन का एक दार्शनिक दृष्टिकोण वनाना है । जो लोग शक्तिशाली नेताओ, सरकारो या पूजीपतियो का आश्रय लेकर अपनी जीवन-नौका खेना चाहे वे ऐसा कर सकते हैं । पर अपने अनुभवो से इतना तो हम अवश्य कह सकते हैं कि—

"मिले रूखी रोटी जो आजाद रहकर,
तो है खौफ-जिल्लत के हलवे से वढकर ।"

किसी भी साहित्यसेवी के जीवन में वनवास का युग कभी भी आ सकता है और तव उसे धैर्यपूर्वक तदनुसार अपना जीवन वना लेना चाहिए । जव महाशक्तिशाली पाण्डवो को अज्ञातवास करना पडा तो फिर हम लोगो की विसात ही क्या है ? पर हम एक वात का ध्यान रखे कि वर्तमान व्यवस्था के प्रति विद्रोह की चिनगारी हमारे हृदय से कही वुझ न जाय । सम्भव है, वर्तमान लेखक-समाज अपने प्रश्नो को हल न कर सके, पर इस वात का सन्तोष तो उसे मिल ही सकता है कि उसकी साधना तथा तपस्या का शुभ फल आगे आनेवाली पीढी उठायेगी । जिस देश मे भगीरथ इक्कीसवी पीढी मे गगाजी को लाये थे, उस देश के साहित्य-सेवी के सम्मुख आदर्शवाद के उदाहरणो की कमी नही है । जरूरत है, हमारे अन्तर्मुखी वनने की और अपनी आलोचना स्वय करने की । देश के अमुक नेता यह नही करते, वह नही करते अथवा अमुक सस्था का यह अपराध है, वह अपराध है,—इस प्रकार की आलोचनाओ से निराशा के वातावरण मे वृद्धि ही होती है ।

जीवन एक अमूल्य चीज है । उसे आत्मघात द्वारा खतम करने की कल्पना ही गलत है । यदि उसे समाप्त ही करना है तो किसी शुभ उद्देश्य या लक्ष्य के लिए तिल-तिल करके समर्पित करने मे हमारा तथा साहित्य-जगत् का कल्याण होगा ।

: १० :

# हमारा साहित्योपवन

आम्र-निकुज, ५ जून, १९४३। पाच आम्र-वृक्षो का सघन कुज है। ये चालीस-पचास वर्ष पहले लगाये गए होगे। इनकी शीतल छाया मे बैठे हुए हमारे मन मे आज अनेक विचार उठ रहे है। किसी सुदूर पेड से कोयल की आवाज सुनाई पड रही है, जो याद दिलाती है ब्रज-कोकिल सत्यनारायण कविरत्न के मधुर स्वर की, जो कभी हिन्दी के साहित्योपवन मे गूजा करता था। यह उद्यान काफी विस्तृत है। हम सोचते है कि जिन मालियो और उद्यान-सेवको ने पानी दे-देकर इन पौधो को वडा किया था, क्या उनके मन मे कभी यह कल्पना भी आई थी कि इनका उपभोग आगे चलकर कौन करेगा ?

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, लल्लूलाल, राजा लक्ष्मणसिह, पं० वालकृष्ण भट्ट, आचार्य द्विवेदीजी और प श्रीधर पाठक तथा अन्य वीसियो साहित्यिको ने हिन्दी-साहित्योपवन की जो सेवा की, उसका शुभ फल आज हम लोग भोग रहे है। क्या हमारा यह कर्त्तव्य नही है कि हम भी इस वगीचे को इस प्रकार सुसज्जित करे कि आगे आनेवाली पीढ़िया कृतज्ञतापूर्वक हमारा स्मरण करे ?

इन वडे-वडे वृक्षो से दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह गज की दूरी पर कलमी आमो के नये पौधे है, जो चार-पाच वर्ष के होगे और जिनमे शायद अगले साल फल आयगे। और यही तीन-चार गज की दूरी पर गमलो मे नवीन पौवे रखी हुई है, जो सख्या मे पचासो होगी। इनमे कितनी ही जीवित रहेगी और सम्भवत कुछ सूख भी जायगी। माली नित्य-प्रति इनकी देख-भाल करता है और वगीचे के मजदूर नियमानुकूल इनमे पानी देते है। मै खयाल

कर रहा हू अपने जनपद के उन नवीन लेखको तथा कवियो का, जिन्हे प्रोत्साहन का रस और उपयुक्त वायुमडल मिलना ही चाहिए। 'कीरति के बिरवा कवि है इनको कबहू कुम्हलान न दीजै'—किसी प्राचीन कवि ने कहा था। पन्द्रह-बीस करोड हिन्दी-भाषा-भाषियो मे यह सर्वथा स्वाभाविक है कि सहस्रो ही कवि और लेखक हो। यद्यपि हम लेखन-ब्रह्मचर्य के पक्षपाती है, तथापि यह भी जानते है कि आत्म-प्रकटीकरण की भावना अदम्य है। किसी कवि से यह कहना कि आप कविता न कीजिए, उतना ही धृष्टतापूर्ण है, जितना कि किसी कली को यह आदेश देना कि तुम प्रस्फुटित न हो। लेखक लेख लिखेगे और कवि कविता रचेगे ही। सर्वोत्तम नीति यही है कि अपनी-अपनी रुचि तथा शक्ति के अनुसार अनुभवी व्यक्ति उन्हे प्रोत्साहन दे और उनका पथ-प्रदर्शन करे।

अभी उस दिन एक माली ने हमसे शिकायत की थी कि अमुक सज्जन ने हमारे अशोक का एक पौधा सुखा डाला। हमारे यहा से गमला तो उठा लाये, पर उसको पानी देने का प्रवन्ध न कर सके। चूकि अशोक वृक्षो की शीतल छाया मे हमारे जीवन के अनेक सुखप्रद घण्टे बीते है, इसलिए हम उस माली की हार्दिक वेदना का अनुमान कर सके; पर साथ ही मन मे यह प्रश्न भी उठा कि क्या इसी प्रकार हम लोगो की उपेक्षा या लापरवाही से अनेक लेखक तथा कवि अविकसित अवस्था मे ही नही पडे हुए है? हमारे उद्यान मे कोई आठ-दस आदमी काम कर रहे है। कोई रहट चला रहा है, कोई पौधो को पानी दे रहा है, कोई वीथियो को झाड रहा है, कोई पौधो की देख-रेख कर रहा है और अभी उद्यान-आफिसर ने आकर इस उद्यान का निरीक्षण किया है। क्या साहित्योपवन मे इसी प्रकार के पारस्परिक सहयोग की भावना की जरूरत नही?

सामने असमय मे ही सूखा हुआ वह पौधा दीख रहा है और हमारे मन मे चिन्ता है उन पत्रकार-वन्धु की, जो क्षय-रोग से पीडित होकर एक अस्पताल मे पडे हुए है और जिनके पास इतना पैसा भी नही कि वे फल खा सके। हमारे एक मित्र ने उन्हे अस्पताल मे जाकर देखा है और लिखा है

कि उनकी हड्डी-हड्डी निकल आई है। हमे याद आ रही है पपीते के उस पौधे की, जो हम अपनी पूर्वी-अफ्रीका-यात्रा के पहले एक मित्र की देख-रेख मे छोड गए थे और जिसे तीन महीने बाद लौटकर हमने बिलकुल सूखा हुआ पाया था। उस समय हमें जो हार्दिक वेदना हुई थी, उसका हमे अभी तक स्मरण है। अभी उद्यान के माली श्री गोविन्द सिह ने, जो बहुत मामूली पढा-लिखा है, कविवर देवीदास का यह कवित्त सुनाया है :

छोटे-छोटे फूलन को सूरन को वारि करे,
पतरे से पौधा पानी डारि प्रतिपारिवो;
फूली फुलवारिन के फूल तोरि लेवं खरे,
घने दरखत एक ठौर तें उखारिवो।
नीचे परे पांयनि ते टेकनि दे ऊंचो करं,
ऊँचे चढि गए ते जरूर काटि डारिवो;
राजन को मालिन को प्रतिदिन 'देवीदास'
चार घड़ी राति रहे इतनी विचारिवो ॥

क्या तुलसीदासजी के समकालीन मारवाड-निवासी देवीदासजी को स्वप्न मे भी इस बात की आशा रही होगी कि तीन सौ वर्ष बाद बुन्देलखण्ड का एक अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित माली उनके कवित्त को इस तरह दुहरायेगा ?

हिन्दी-साहित्योपवन के तीन स्वर्गीय मालियो से हमारा व्यक्तिगत परिचय था और उनसे हमने बहुत-कुछ पाया भी था। वे थे आचार्य द्विवेदी जी, गुरुवर प० पद्मसिह शर्मा और श्रद्धेय गणेशजी। उनके चले जाने के बाद यह उपवन सूना-सूना-सा लगता है —

'रंगी है आजकल के गुले नौबहार से।
अगला जो कोई बर्ग जर्द इस चमन में है।

अर्थात्—वसन्त-वाटिका मे नवीन पुष्प खिले है, पीले पत्ते तो कही-कहीं दृष्टिगोचर होते है।

स्व० पद्मसिह शर्मा का जीवन ही साहित्यमय था। कवियो और

लेखको की रचनाओ की दाद देना, उन्हे प्रोत्साहित करना मानो उन्हीके हिस्से में आया था। श्रीमती 'चकोरी' की 'उजडी वाटिका से' नामक कविता छपी थी। शर्माजी की निगाह उस कविता पर पडी और उन्होने तुरन्त ही उसकी प्रशसा लिख भेजी। कविता के दो पद्य सुन लीजिए

वह क्या हुए वैभव तेरे सभी, वह मजुलता दिखलाती न क्यों ?
वह शीतल सौरभ डूबी बयार, अचचल है इठलाती न क्यों ?
वह पीली पराग-सनी सरसो, कुछ झूमती-सी झुक जाती न क्यो ?
उकसाती जो आग वियोग की है, वह कोयल भी अब गाती न क्यो?
वह वल्लरिया लिये पल्लवो को, निज अंक में नित्य झुलाती न क्यो?
मद-मत्त हो स्वागत में उषा के, विहंगावली गान सुनाती न क्यो ?
सुमनावलिया मुसकाती हुई, भ्रमरों को बुला बहलाती न क्यो ?
मदिरा-सी पिये अलसाती हुई, तितली अब चित्त चुराती न क्यो ?

कविता में इसी प्रकार के पाच मनोहर पद्य थे। उन्हे पढकर प० पद्मसिह ने लिखा था—"'उजडी वाटिका से' शीर्षक कविता मुझे बहुत पसन्द आई। यह चकोरी देवी कौन है ? अच्छा लिखती है। मैंने पहली बार ही उनकी रचना पढी है। तीसरे छन्द की अन्तिम पक्ति पढते वक्त कुछ धचका-सा लगता है, उसमे छन्दोभग या ध्वनिभग है। मात्राए तो गिनी नही, पर धचका जरूर लगता है, जरा पढ देखिए।" हिन्दी-जगत् मे आज बीसियो लेखक तथा कवि विद्यमान है, जिन्हे समय-समय पर शर्माजी से बहुत-कुछ प्रोत्साहन मिला था। इन पक्तियो का लेखक तो उनका अत्यन्त ऋणी है।

इसी प्रकार स्वर्गीय द्विवेदीजी तथा गणेशजी हमे और हमारे-जैसे पचासो नवीन लेखको तथा कवियो को बराबर प्रोत्साहन देते रहते थे। जितने साहित्यिको का निर्माण इस आचार्यत्रयी ने किया है, उतने और उस कोटि के साहित्यिक हिन्दी-जगत् मे शेष सब धुरन्धर महारथियो ने मिलकर भी न बनाये होगे। अभी उस दिन विद्वद्वर श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपने एक पत्र में बडी कृतज्ञतापूर्वक द्विवेदीजी के एक उत्साहप्रद

कृपा-पत्र का जिक्र किया था, जो उन्हे आज से बीस वर्ष पहले प्राप्त हुआ था। हिन्दी का शायद ही कोई उल्लेख-योग्य लेखक या कवि हो, जिसे पूज्य द्विवेदीजी ने प्रोत्साहित न किया हो। उन्हीके श्रेष्ठ शिष्य गणेशजी ने इस परम्परा को निबाहा और खूब निबाहा।

सौभाग्य की बात है कि हिन्दी का साहित्योपवन दिनो-दिन खूब हरा-भरा होता जाता है। खेद केवल इसी बात का है कि उसकी देख-भाल करने वाले सहृदय समालोचको का प्राय अभाव ही है। इस कारण झाड-झखाड की भी वृद्धि हो रही है और इस अकाल तथा कन्ट्रोल के जमाने मे भी 'सब धान बाईस पसेरी' बिक रहे है! दूसरे साहित्य-सूत्रो की बात हम नही जानते। सम्भवत उनके यहा क्षति-पूर्त्ति का सिद्धान्त काम कर रहा हो। हमारे यहा तो इन तीन साहित्यिक महापुरुषो—द्विवेदीजी, शर्माजी, गणेशजी—के उठ जाने पर उनका स्थान खाली ही है। पर हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र वसुन्धरा है और हिन्दी-माता की कोख कभी खाली नही होगी, इसलिए निराश होने का कोई कारण नही।

पहले जब कोई अच्छा लेख या नोट अपने हाथ से निकल जाता था तो इस बात की आशा रहती थी कि उक्त रचना की कद्र करनेवाले मौजूद है और हमे निराश नही होना पडता था। जिस दिन श्रद्धेय द्विवेदीजी या शर्माजी की चिट्ठी आ जाती थी, आफिस मे उत्सव-सा हो जाता था। कभी द्विवेदीजी किसी की लेख-शैली की प्रशसा करते थे तो कभी शर्माजी किसी के अनुवादो की दाद देते थे। कभी भूल हो जाती थी तो मीठी डाट-फटकार हमारे हिस्से मे आती थी। यह अनुभव करते हुए कि हमारे सिर पर कोई वयोवृद्ध मौजूद है, जो हमे पथ-भ्रष्ट न होने देगे, हृदय को ढाढस बधा रहता था। बडे-बूढो की डाट-फटकार मे भी आनन्द ही आता है। अब कोई अच्छे लेख लिखे भी तो किसके लिए? यहा कौन किसे पूछता है? आज हममें से प्रत्येक अपने घर की चहारदीवारी के भीतर साग-तरकारी की वाडी लगाकर खुद ही उसका भोग करना चाहता है। उपवन लगाने या सजाने की चिन्ता किसी को नही। भगवान

ने गीता मे कहा था

यज्ञशिष्टाशिन सन्तो मुच्यन्ते सर्व किल्विषै

भुजते ते त्वघं पापा ये पचन्ति आत्मकारणात् ।

अर्थात्—यज्ञ से बचे हुए पदार्थो का भोजन करने वाले सन्त लोग तमाम पापो से मुक्त हो जाते है, किन्तु जो लोग अपना ही पेट भरने के लिए भोजन बनाते है, वे केवल पाप का ही आहार करते है। क्या ही अच्छा हो, यदि हमारे साहित्यिक याज्ञिक इस उपदेश को ध्यान मे रखे !

आज हम प्राचीन भारतीय धर्म, श्राद्ध-कर्म को भी भूलते जा रहे है। हमारे यहा कितने ही लेखक और कवि ऐसे हो गए है, जो बहुत अच्छा लिखते थे, पर जिनके लेखो अथवा कविताओ का सग्रह हम अभी तक नही कर पाये। उनका यश शरीर हमारी आखो के सामने ही सूखता जा रहा है !

यदि हम अपने-अपने जनपद की जाच-पडताल करे तो हमे पता लगेगा कि हमारे साहित्योपवन की कितनी ही कलिया बिना खिले ही मुरझा गई। प्रोत्साहन किसे कहते है, यह उन्होने जीवनभर नही जाना। वास्तव मे वह विद्वान लेखक हिन्दी-माता और हिन्दी-जनता का बडा उपकार करेगा, जो इन उपेक्षित व्यक्तियो के दृष्टिकोण से आधुनिक हिन्दी का इतिहास लिखेगा। हमारे इतिहास-लेखक प्राय 'टका मे टका और धका मे धका' की नीति से काम लेते है और विज्ञापित व्यक्तियो की ही प्रशसा के पुल बाधते चले जाते है। भावी इतिहास-लेखक का कर्त्तव्य होगा उन लेखको तथा कवियो का भी उल्लेख करना, जो वास्तव मे बडे होनहार थे, पर प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण जिनका यथोचित विकास नही हो पाया। कहने का अभिप्राय यही है कि हमारे सैकडो ही छुटभइए आज हमसे प्रारम्भ मे थोडी-सी सहायता ( किंचित् प्रोत्साहन ) की आशा रखते है और उन नवाकुरो के पनपने का अवसर अवश्य मिलना चाहिए। हम साहित्य-जगत् मे परावलम्बन की भावना जाग्रत नही करना चाहते। प्रोत्साहन का कोई सदाव्रत जारी करने की इच्छा हमारी नही है। हम यह भी जानते है कि चिरस्थायी पराश्रय अन्ततोगत्वा निर्बलता तथा अनैतिकता को जन्म देता

है। हमारा कहना तो सिर्फ इतना ही है कि तैरना सीखनेवालो के लिए प्रारम्भ मे जैसे थोडे से सहारे की जरूरत होती है, वैसे ही साहित्य-सरिता के नवीन तैराको को शुरू-शुरू मे कुछ सहायता मिलनी चाहिए। बस।

कभी-न-कभी वह युग अवश्य आयगा, जब कि हमारे साहित्यिक काल-कोठरियो के बजाय उद्यानो मे रहेगे, जब कि नोन-तेल-लकडी की निरन्तर चिन्ता करने के बजाय देश के महत्वपूर्ण प्रश्नो का चिन्तन करते हुए उनका समय बीतेगा और जबकि समाज मे उन्हे वही स्थान प्राप्त होगा, जो प्राचीन काल मे सच्चे तपस्वी ब्राह्मणो को प्राप्त था। नि सन्देह आज के युग मे लेखक ही वास्तविक ब्राह्मण है, चाहे वे किसी भी जाति के हो (हिन्दू, मुसलमान, पारसी या ईसाई इत्यादि), पर उस युग को लाने के लिए हम सबको साधना करनी होगी।

एक वृद्ध आदमी से, जो आम के पौधे लगा रहा था, किसी ने पूछा—"बाबा, तुम आम क्यो लगाते हो ? इनके फल खाने के लिए तुम क्या बैठे रहोगे ?" बूढे ने जवाब दिया—"हमारे बाबा ने आम लगाए थे, सो हम खा रहे है। हम लगा रहे है, सो हमारे नाती खायगे।" इसी भावना से हम साहित्यिको को काम करना चाहिए। हिंदी पत्रकार-कला की जिस फुलवारी को हमारे महारथियो ने लगाया था, उसमे कम-से-कम एक बार चक्कर लगाकर हम नवीन साहित्यिक अकुरो को देखे और जाच करे कि कही कोई होनहार पौधा सरस वायुमडल के अभाव मे सूख तो नही रहा ?

साहित्योपवन के प्रश्न दो-एक नही, अनेक है और उनपर गम्भीरता-पूर्वक विचार हो सकता है, जब प्रत्येक जनपद के साहित्य-सेवी अपने यहा के किसी सुन्दर प्राकृतिक स्थल पर इकट्ठे होकर पाच-सात दिन साथ रहे और उस उल्लासमय वायुमण्डल मे दिल खोलकर बातचीत करे। साधन-सम्पन्न व्यक्ति इस उद्यान-निवास और उद्यान-भोज का प्रबन्ध करके आसानी से यश लूट सकते है। वैसे तो प्रत्येक साहित्य-सेवी के लिए सैकडो वर्ष पहले के किसी यूनानी दार्शनिक का यह उपदेश 'अपने बगीचे को

जोतो-बोओ' ही आदर्श वाक्य है । 'स्वधर्मे निधन श्रेय ' भगवान ने गीता मे कहा था । फिर भी पारस्परिक विचार-परिवर्त्तन की कभी-कभी आवश्यकता पडती रहती है ।

साहित्यिको को युग-धर्म को ध्यान मे रखते हुए स्व-धर्म पालन करना चाहिए । सहस्र वार वन्दनीय है राल्फ फाक्स-जैसे लेखक, जो कलम और वन्दूक दोनो के धनी थे (शस्त्र और शास्त्र दोनो के ज्ञाता), जिन्होने फासिज्म के प्रवल प्रभजन के प्रतिरोध मे अपने प्राणो की आहुति दे दी और जिनके यश सौरभ से विश्व-साहित्य के उपवन युग-युगान्तर तक महकते रहेगे । पर न प्रत्येक साहित्यिक उनकी तरह क्षत्रिय वन सकता है और न प्रत्येक को वनना ही चाहिए । वैचित्र्य मे जीवन है और वैचित्र्य ही उपवन तथा साहित्योपवन दोनो की जान है । सकुचित है वे, जो चट्टान पर उगने वाले पीपलो की तो पूजा करते है, किन्तु कोमल जुही तथा चचल चमेली के लिए जिनके हृदय मे कोई भी स्थान नही । पर कोई भी असली उद्यान-प्रेमी अथवा सच्चा साहित्य-सेवी असहिष्णु नही वन सकता ।

गुलाव को चमेली वनने की जरूरत नही और गेदा जुही से ईर्ष्या क्यो करे ? उद्यान मे सवका उचित स्थान है और अपने स्थान पर यथोचित सम्मान । महाप्राण वटवृक्ष तूफानो मे डटे रहेगे और छुईमुई क्यारियो मे शोभा देगी । आम यदि मधुर फल देगे तो ववूल भी कठोर काटे, जिनसे वाडी की सीमा पर रक्षा का काम लिया जा सकेगा । उद्यान और साहित्योपवन दोनो के लिए हम एक ही सिद्धान्त के समर्थक है, यानी सवको फूलने-फलने तथा फैलने के लिए पर्याप्त अवकाश और आकाश प्राप्त हो—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरत. ससिद्धि लभते नर ।'

: ११ :

# हमारा साहित्यिक संगठन

## १. साहित्यिक परिषदें

जनता की रुचि को शिक्षित एव सुसस्कृत करने के लिए जितनी भी साहित्यिक गोष्ठिया और समितिया कायम की जा सके, की जानी चाहिए। इनमे से अधिकाश तो स्थानीय होगी और कुछ पत्र-व्यवहार के द्वारा भी सचालित हो सकती है। हमारा खयाल है कि साहित्यिक तथा सास्कृतिक प्रचार-कार्य के लिए इन गोष्ठियो द्वारा बहुत काम हो सकता है।

गोष्ठियो के सिवाय कुछ काम चिट्ठी-पत्री की परिषदो द्वारा भी हो सकता है। पच्चीस-पच्चीस साहित्यिको की पाच परिषदे कायम करना कोई मुश्किल बात न होगी।

इस प्रसग मे हम आयरलैंड के स्वर्गीय महाकवि यीट्स के विचार उद्धृत करते है, जो उन्होने एक आयरिश परिषद् कायम करने के विषय मे प्रकट किये थे। यीट्स और ए० ई० महापुरुष थे और उन जैसी आकाक्षाएं हमारे लिए अनुपयुक्त होगी, फिर भी उनकी निर्धारित दिशा मे काम करना हमारे साहित्य के लिए हितकर होगा।

स्वर्गीय डबल्यू० बी० यीट्स आयरलैंड के एक प्रसिद्ध कवि तथा लेखक थे। उन्हे आयरलैंड की एक साहित्यिक सभा की ओर से भोज दिया गया था। उस भोज के अवसर पर भाषण देते हुए उन्होने कई बातें बड़े मार्के की कही थी। उन्होने कहा था :

"मैं कुछ दिनो से अनेक आयरिश साहित्य-सेवियो के साथ आयरिश साहित्य-परिषद् की स्थापना के विषय पर परामर्श करता रहा हूं, और मैंने इस विषय की एक योजना भी तैयार की है। मेरी समझ में पहले पांच-

सात प्रसिद्ध साहित्यिको की एक समिति बनाई जाय और उन लोगों को यह अधिकार दे दिया जाय कि वे अपनी ओर से अधिक-से-अधिक बीस आदमी चुन सकें। ये सभी सदस्य लेखक अथवा आलोचक होगे और आयरलैंड के सच्चे साहित्य-सेवियो के प्रतिनिधि समझें जायगे। हमारे यहां इस प्रकार की सस्था के कायम करने की आवश्यकता इसलिए और भी अधिक है कि आयरलैंड में खरी समालोचना करनेवाले पत्रो का अभाव है। इस कारण इस साहित्य-परिषद् की स्थापना पाठको के लिए बहुत लाभदायक होगी, क्योकि वह आयरलैंड में तथा अन्यत्र भी सत्साहित्य के प्रचारार्थ उद्योग करेगी। असाधारण योग्यतापूर्ण पुस्तको के प्रणेताओ को यह परिषद् प्रतिवर्ष पदक भी प्रदान कर सकती है और इसके द्वारा आयरिश साहित्य की अधिकार-युक्त जाच तथा आलोचना भी प्रकाशित की जा सकती है। हमने यह विचार किया है कि प्रारम्भ में सरकार से सहायता न ली जाय और हमारी साहित्य-परिषद् का सचालन सर्वसाधारण की सहायता के द्वारा ही हो। परिषद-सम्बन्धी अन्य नीति इस आलोचना के कार्य-रूप में परिणत होने पर निर्धारित हो सकती है। अभी मैंने बर्नार्ड शॉ से इस बात का वचन ले लिया है कि वे हमारी साहित्य-परिषद के सदस्य बन जायंगे। मि जार्ज रसेल ए ई भी इसके सदस्य होगे। इसके अतिरिक्त कई सुविख्यात लेखको और औपन्यासिको से भी सदस्य बनने की प्रार्थना की जायगी। हमारी यह साहित्य-परिषद लेखक की रचना पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करेगी। चीज अच्छी है या नही ? यही प्रश्न उसके लिए मुख्य होगा। रचना अग्रेजी में हो या आयरिश भाषा में, इस बात की कोई कैद न होगी। मैंने सुना है कि एक वृद्ध किसान ने अपना जीवन-चरित आयरिश भाषा में लिखाया है और आयरलैंड की सरकार उसे छपाना चाहती है। यदि वह जीवन-चरित वैसा ही अच्छा है जैसी कि खबर मैंने उसके विषय में सुनी है तो इस किसान को भी साहित्य-परिषद् का सदस्य निर्वाचित किया जायगा। मुझे यह पता नही कि वह किसान लिख-पढ भी सकता है या नहीं, पर मै अपनी साहित्य-परिषद को

एक सजीव संस्था बनाना चाहता हूं।"

चीन में बारह सौ वर्ष पुरानी एक साहित्य-परिषद् थी, जिसकी स्थापना सन् ७४० मे हेन वश के एक सम्राट के समय मे हुई थी। उसका काम था सम्राट को परामर्श देना। उसमे दो सौ चालीस सदस्य थे। सरकार की ओर से उनमे से प्रत्येक को एक घर, छोटा-सा बगीचा और भरण-पोषण के लिए मामूली पेन्शन मिलती थी। यह परिषद् यद्यपि सरकार से सहायता लेती थी तथापि सैकडो वर्षो से उसकी परम्परा पूर्ण स्वाधीनता की ही चली आई थी। यही नही, उसका यह कर्त्तव्य और अधिकार भी था कि वह केवल सरकार की ही नही, वल्कि स्वय सम्राट् की भी आलोचना करे। यह परिषद् अपना निर्वाचन स्वय ही करती थी। यानी जव किसी सदस्य का स्थान खाली होता था तो शेष सदस्य देश के सर्वोत्तम विद्वानो मे से किसी एक का चुनाव करके उसे अपनी परिषद् मे शामिल कर लेते थे। इस परिषद् के कर्त्तव्य तीन थे

१ वाद-विवाद, २ वाद-विवादो के परिणामो का राष्ट्र भर मे प्रचार; ३ आफिसरो के कार्यो का नियन्त्रण। यह परिषद् भिन्न-भिन्न विषयो पर पेम्फलेट निकाला करती थी। विषयो की कोई सीमा न थी। विदेशो के साथ सधि, शिक्षा की नवीन पद्धति, कृषि-शास्त्र, पश्चिमी विज्ञान, उपवनो के कीटाणु इत्यादि विषयो के पेम्फलेट लाखो की सख्या मे छापे जाते थे और ग्राम-ग्राम मे उनका प्रचार होता था। इस सस्था का सक्षिप्त विवरण एडवर्ड कार्पेन्टर ने अपनी एक पुस्तक मे दिया है।

हमारे देश की स्थिति चीन से भिन्न है, तो भी, हम एक चीज तो इस चीनी परिषद् से ग्रहण कर सकते है, यानी भिन्न-भिन्न विषयो पर स्वतत्र रूप से विचार करके उनका प्रचार।

हम विकेन्द्रीकरण की नीति के पक्षपाती है, इसलिए हमारा आग्रह है कि इस प्रकार की कम-से-कम पाच परिषदे स्थापित हो जाय। कलकत्ता, पटना, काशी, प्रयाग, कानपुर, लखनऊ, आगरा, दिल्ली, जयपुर, उदयपुर, इन्दौर और जबलपुर तथा बम्बई मे यदि एक-एक व्यक्ति भी ऐसा मिल

जाय जो हर माह कुछ चन्दा कर सके तो ऐसी परिषदो का सचालन कोई मुश्किल कार्य न होगा ।

ये परिषदे हिन्दी जगत् के मुख्य-मुख्य प्रश्नो पर विचार करके उनका साराश पत्रो द्वारा जनता के सम्मुख रख सकती है । हिन्दी पत्रकारो तथा सम्पादको की सहानुभूति तथा सहायता तो हमे मिलती ही रहेगी । वास्तव में हिन्दी साहित्य-क्षेत्र के विकास मे हिन्दी पत्रकारो का बडा भारी हाथ रहा है । यदि ये परिषदे पत्रकारो को अपनी ईमानदारी का विश्वास दिला सके तो वे अपने पत्रो द्वारा इन परिषदो की बहुत कुछ सहायता कर सकते है । यदि एक अनिवार्य नियम यह बना दिया जाय कि ये परिषदे चुनावो के दलदल से दूर रहेगी तो झगडो की जड ही मिट जाय ।

निम्नलिखित प्रश्नो पर ये परिषदे विचार कर सकती है

१ हिन्दी पत्रकार विद्यापीठ, २ हिन्दी-जगत् के लिए पचवर्षीय कार्यक्रम, ३ हिन्दी में आलोचना, ४ पुस्तक-प्रकाशन-व्यवसाय, ५ हिंदी-विश्वविद्यालय, ६ साहित्य-सेवियो की कीर्ति-रक्षा, ७ विश्वविद्यालयो मे हिन्दी की पढाई, ८ साधारण जनता क्या पढती है, ९ भावी साहित्य की रूपरेखा, १० जनपदीय कार्यक्रम, ११ ग्रामीण लेखको की समस्या, १२ लेखको के लिए पारिश्रमिक का प्रश्न ।

कभी-कभी ट्रेक्ट भी छपाकर ये परिषदे अपने विचार जनता तक भेज सकती है ।

इन परिषदो के सदस्य प्रान्तीय अथवा अखिल भारतीय सम्मेलनो के अवसरो पर दो दिन पहले पहुच कर अपनी गोष्ठी कर सकते है ।

यदि अखिल भारतीय साहित्यिक लीडरी का मोह छोडकर हम स्थानीय सास्कृतिक कार्यों मे जुट जावे तो बहुत-कुछ काम हो सकता है । हिन्दी भाषा-भाषियो की सख्या बीस करोड है । उनतक साहित्य तथा सस्कृति का सदेश पहुचाने के लिए हमे सहस्रो ही छोटे-छोटे केन्द्र कायम करने होगे । कही पुस्तकालय खोलने होगे, कही वाचनालय, कही पुस्तको की दुकान खुलवानी होगी तो कही व्याख्यानशाला का प्रबन्ध

करना होगा । हमारी अखिल भारतीय बीमारी का इलाज स्थानीय सस्थाओ के द्वारा ही हो सकता है ।

अपने भावी साहित्यिको की सुविधा को ध्यान मे रखना हमारा प्रथम कर्तव्य है । जहा-जहा हिन्दी मिडिल स्कूल है, कम-से-कम वहा-वहा तो छोटी-मोटी साहित्यिक परिषद् होनी ही चाहिए । ग्रामीण स्कूल के अध्यापको को मानसिक भोजन पहुचाने का भी महत्वपूर्ण कार्य हमे ही करना है । यह महायज्ञ किसी एक केन्द्रीय सस्था द्वारा नही हो सकता । इसके लिए तो सैकडो ही स्थानीय समितियॉ और सहस्रो ही केन्द्र स्थापित करना होगे ।

हमारे साहित्यिक सगठन का मूल मत्र और एकमात्र उपाय विकेन्द्रीकरण है, "नान्य पन्था विद्यते ।"

## २ स्वाध्याय-मंडल

हमारे देश मे राजनैतिक विषयो के अध्ययन के लिए स्वाध्याय-मडल का प्रयोग प्रारम्भ हो चुका है और साम्यवादी दल की ओर से कई स्थानो पर स्वाध्याय-मडल के अधिवेशन हो भी चुके है । पर जहा तक हिन्दी साहित्य-क्षेत्र के विषय मे हम जानते है, साहित्यिक तथा सास्कृतिक कार्यो के लिए उनका सूत्रपात अभी तक नही हुआ है । इस सिलसिले मे स्वर्गीय बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अखण्ड कवि-सम्मेलनो का जिक्र करना अप्रासगिक न होगा । ये कवि-सम्मेलन कई दिन तक चलते थे और कवियो के ठहरने तथा भोजन इत्यादि का प्रबन्ध एक ही स्थान पर होता था । जो थक जाते थे, वे सो जाते थे, शेष कविता सुनाया करते थे । इस प्रकार के कवि-सम्मेलन समय की गति से पिछड चुके है, पर यह सम्भव है कि कुछ प्राचीन-कालीन रसज्ञ साहित्य-प्रेमियो के हृदय मे उनके प्रति अब भी कुछ आकर्षण हो ।

अब वक्त आ गया है कि साहित्यिक तथा सास्कृतिक कार्यो के लिए हम लोग स्वाध्याय-मडलो तथा घुमक्कड दलो का आयोजन करे ।

स्वाध्याय-मडल के प्रयोग के विषय मे हम एक बात प्रारम्भ मे ही

कह देना चाहते है। वह यह कि हम प्रारम्भ मे ही इस प्रयोग से अधिक आशा न करे। सखेद हमे यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हम लोगो मे—हिन्दी-साहित्य-सेवियो मे—वैसी लगन नही पाई जाती जैसी देश के अनेक राजनैतिक कार्यकर्त्ताओ मे पाई जाती है। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र को आवश्यकता है असाधारण व्यक्तित्व वाले ऐसे साहित्यिको की, जिनमे आदर्शवादिता के साथ-साथ व्यवहार-वुद्धि तथा प्रवन्ध-शक्ति भी हो, जो अपने को साहित्यिक शक्ति का केन्द्र वनाकर अपने चारो ओर सच्चे कार्यकर्ताओ का एक छोटा-सा समूह इकट्ठा कर सके। यदि देश के प्रत्येक जनपद मे एक भी ऐसा साहित्य-सेवी विद्यमान हो तो स्वाध्याय-मडल वडी आसानी से चलाये जा सकते है। पर इसके मानी यह नही है कि तवतक के लिए हम ऐसी योजनाओ को स्थगित कर दे। वर्तमान स्थिति मे हमारे जैसे साधारण व्यक्तियो को ही ये शुभ कार्य प्रारम्भ कर देने चाहिए। हमे ऐसे कार्यकर्ता तलाश कर लेने चाहिए, जो हमारी अपूर्णताओ के पूरक हो।

जिस भाषा के वोलने वाले वीस करोड हो और जो भारत की राष्ट्र-भाषा हो, उसके लेखको, कवियो तथा पत्रकारो को पन्द्रह-वीस दिन भी साथ रहने तथा निजी प्रश्नो पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने का मौका न मिले; इससे अधिक दुर्भाग्य की वात और क्या हो सकती है ? अपनी क्षुद्र वुद्धि के अनुसार दो-चार वाते यहा निवेदन किये देते है

(१) स्वाध्याय-मडल मे भाग लेने के लिए आठ-दस व्यक्तियो से अधिक निमन्त्रित न किये जाय। जो महानुभाव आवे, वे कम-से-कम दो निवध लिखकर अपने साथ लावे।

(२) यदि निबन्धो के विषयो की घोषणा पहले से ही पत्रो मे कर दी जाय तो सम्भवत कुछ उपयोगी परामर्श वाहर से भी आ सकते है और साहित्यिको के सिवाय उच्च कक्षा के कुछ विद्यार्थी भी इन वाद-विवादो मे भाग ले सकते है।

(३) जो भाषण पढे जाय उन्हे भिन्न-भिन्न मासिक पत्रो मे छपाया जा सकता है और वितरणार्थ उनकी पाच-पाच सौ प्रतिया अलग निकाली

जा सकती है। यदि पहले से ही छपी हुई प्रतिया लाई जाय तो और भी अच्छा हो।

(४) निमन्त्रित व्यक्तियो की सुविधा का पूरा-पूरा खयाल रक्खा जाय। उनसे पूछ लिया जाय कि क्या उनके ठहरने या भोजन इत्यादि के विषय मे कोई विशेष प्रबन्ध करना होगा ?

(५) आगन्तुक महानुभाव स्वस्थ रह सके, इसके लिए व्यायाम तथा भोजन इत्यादि की नियमित व्यवस्था होनी चाहिए। एक भी व्यक्ति के बीमार पड जाने से सम्पूर्ण मडल के कार्यक्रम मे बाधा आ सकती है। इस विषय मे कठोर शासन की आवश्यकता है। कोई भी अनियमितता अक्षम्य मानी जानी चाहिए।

(६) इन मडलो मे साहित्य के भिन्न-भिन्न अगो पर गम्भीरता-पूर्वक विचार होना चाहिए और इन वाद-विवादो की रिपोर्ट उसी समय तैयार कर लेनी चाहिए। यदि कोई हिन्दी शार्टहैण्ड जाननेवाला मिल जाय तब तो कहना ही क्या; नही तो कई व्यक्ति अलग-अलग नोट लेकर फिर तुलना करके रिपोर्ट तैयार कर सकते है। यह रिपोर्टिंग बिना चूके तुरन्त ही हो जाना चाहिए, नही तो मामला हमेशा के लिए टल जायगा। उपस्थित व्यक्ति चाहे बीस-पच्चीस ही हो, पर बाहर के श्रोता तो सहस्रो ही हो सकते है।

(७) जिस प्रदेश मे जो ऋतु अधिक स्वास्थ्यप्रद हो, उसी मौसम मे स्वाध्याय-मडल का आयोजन यदि हो सके तो आगन्तुको के लिए एक विशेष आकर्षण और भी हो जायगा। कुमाऊ-गढवाल वाले यदि गर्मियो मे या अक्तूबर मे मडल का आयोजन करे तो कहना ही क्या!

(८) हमारे यहा अनेक उत्सव वैसे ही हुआ करते है—यथा तुलसी-जयन्ती, कवि-सम्मेलन, प्रान्तीय या जिला साहित्य-सम्मेलन इत्यादि। उन अवसरो पर हम लोग स्वाध्याय-मडल के अधिवेशन कर सकते है। इस प्रकार खर्च मे भी किफायत हो सकती है। कालेजो के विद्यार्थी तो ऐसा आयोजन आसानी से कर सकते है।

(९) ठोस साहित्यिक कार्य के सिवाय सात्विक मनोरजन की सामग्री भी होनी चाहिए। खूवी तव है जव आनन्द तथा उल्लास के वाह्य वातावरण के भीतर हम ठोस काम कर दिखावें।

(१०) निकट के मनोहर प्राकृतिक स्थलो की यात्रा का प्रवन्ध अवश्य किया जाय। इन यात्राओ के चित्र भी लिये जावें। खेल-कूद, भाग-दौड, कवड्डी, रस्साकशी, तैरना, फुटवाल, वैडमिण्टन इत्यादि का प्रवन्ध आवश्यक है। साहित्य-सेवी होने के मानी मनहूसियत नही है। साहित्यिको को तो सवसे अधिक सजीव होना चाहिए। "जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है।"

(११) इस प्रकार के स्वाध्याय-मडल के सफलतापूर्वक मचालन के लिए सवसे अधिक आवश्यक वस्तु है महिष्णुता, वन्धुत्व की भावना, दूसरो की त्रुटियो के प्रति उदारता। यदि यह नही तो सारा गुड गोवर हो जायगा।

(१२) वाद-विवादो के सचालन में काफी चतुरता से काम लेना पडेगा। अप्रामगिक वातो को रोकना, समय का उचित विभाजन करना, प्रत्येक को अपनी विशेष वात कहने का मौका देना और वाद-विवाद के अन्त मे साराश को विधिवत् दुहराना, ये काम आसान नही।

जिस प्रकार प्राचीन काल के यज्ञो के लिए यजमान और होताओ की जरूरत हुआ करती थी, उसी प्रकार इन साहित्यिक यज्ञो के लिए श्रद्धालु जजमानो तथा समझदार याज्ञिको की नितान्त आवश्यकता है। यदि श्रम-विभाग की नीति से काम लिया जाय--हरएक को उसकी योग्यता के अनुसार काम सौपा जाय और प्रत्येक कार्यकर्ता अपनी जिम्मेदारी का अनुभव करे तो ये स्वाध्याय-मडल खासी चीज वन सकते है। उनसे अनेक लाभ होगे।

पहला लाभ तो यह होगा कि हम लोग अपने सहयोगियो से भली-भाति परिचित हो जायगे और मिलकर काम करने की योग्यता का हममे विकास होगा। दूसरा लाभ यह होगा कि पारस्परिक विचार-विनिमय से अनेक साहित्यिक तथा सास्कृतिक प्रश्नो पर कुछ प्रकाश पडेगा।

तीसरा लाभ मिल सकता है उन नवयुवक साहित्य-सेवियो तथा विद्यार्थियो को जो हमारे साहित्यिको के नाम केवल पत्रो मे ही पढा करते है, पर जिन्हे इन साहित्यिको के निकट सम्पर्क मे आने का अवसर नही मिलता ।

अन्त मे स्वाध्याय-मडल के प्रयोगकर्ताओ की सेवा मे एक निवेदन और भी कर दू । प्रारम्भिक असफलताओ से वे निराश न हो । अगर शुरू मे ही हम इन मडलो से अधिक उम्मीद रक्खेगे तो हमें निराश होना ही पडेगा । यह भी सम्भव है कि हमारे मुख्य उद्देश्य के बजाय गौण उद्देश्यो मे अधिक सफलता मिल जाय ।

विलायत मे वीसियो वर्षो से वसन्तकालीन विद्यालयो के आयोजन भिन्न-भिन्न विषयो को लेकर होते रहे है । हम लोगो के पास न तो वैसे साधन है और न उन जैसी उत्कट साहित्य-साधना, फिर भी हमे हिम्मत से काम लेना चाहिए । अपने अनुभव से हम दृढतापूर्वक कह सकते है कि स्वाध्याय-मडल का प्रयोग अन्त मे काफी उपयोगी सिद्ध हो सकता है । हथेली पर आम नही जम सकते और साहित्यिक तथा सास्कृतिक पौधे वर्ष-दो-वर्ष मे नही उग सकते । तुरन्त फल पाने की आशा करना वाल-मनोवृत्ति का सूचक है । यदि हमारे स्वाध्याय-मडलो का परिणाम पचास व॰ वाद भी निकले तो भी हमे निराश क्यो होना चाहिए ?

### ३. सम्भाषण और प्रवचन

हम उन आदमियो मे से नही है, जो यह समझते है कि वुद्धिजीवी प्राणियो को श्रमजीवी आदमियो से अधिक साधन या सुविधाए मिलनी चाहिए अथवा वे कोई उच्चतर श्रेणी के जीव है । लेखको तथा मजदूरो को तो हम एक ही वर्ग के मनुष्य मानते है । उनके हित एक-दूसरे के पूरक है विरोधी नही । मानव-समाज का कल्याण इसीमे है कि वह भिन्न-भिन्न कोटि के मनुष्यो के हितो का न्यायपूर्ण सामजस्य करे । जो लोग वुद्धिजीवियो को—लेखको, कवियो, अध्यापको, डाक्टरो, वकीलो इत्यादि को—उच्च वर्ग का मानते है, वे एक नवीन वर्णव्यवस्था का निर्माण कर रहे है, जो आगे

चलकर हम सबके लिए अत्यन्त विघातक होगी। हमारा यह दृढ विश्वास है कि जबतक श्रमजीवियो को बौद्धिक भोजन नही मिलता और लेखको तथा कवियो को शारीरिक श्रम नही करना पडता तबतक दोनो ही पगु रहेगे।

वर्तमान सकटकाल मे यदि हम साहित्यिको की आवश्यकता के प्रश्न पर कुछ लिख रहे है तो उसका अभिप्राय यह नही है कि हम उनके लिए कोई विशेष अधिकार या सरक्षकता चाहते है। हर्गिज नही। परमुखापेक्षी साहित्य-सेवी तो एक निर्जीव प्राणी है और उसके लिए तो पिजरापोल ही एक उपयुक्त स्थान है। हा, सजीव साहित्यिको की बात दूसरी है।

जिस प्रकार मजदूरो के लिए हसिया, हथौडा, फावडा इत्यादि औजारो की जरूरत है, उसी प्रकार साहित्यिको के लिए ग्रन्थ तथा सम्भाषण इत्यादि की आवश्यकता है। बिना समानशील लेखको से विचार-परिवर्तन किये कोई भी साहित्यिक बहुत दिनो तक अपनी बुद्धि को तीक्ष्ण अथवा आलोचना-शक्ति को प्रखर नही रख सकता।

अथवा यो कहिए कि जिस तरह रसोइयो के लिए आटा, दाल, साग-तरकारी इत्यादि आवश्यक है, उसी तरह लेखको तथा कवियो के लिए नवीन-नवीन अनुभूतिया आवश्यक है। लाखो व्यक्तियो के भोजन का प्रबध करने के लिए कितनी जबरदस्त सगठन-शक्ति चाहिए ? करोडो मनुष्यो के मानसिक भोजन का इन्तजाम करना क्या आसान है ?

कई वर्ष तक लगभग एकान्तवास करने के बाद हमे यह कटु अनुभव हुआ कि उपयुक्त साहित्यिक वातावरण के अभाव मे अच्छे लेखो के मजमून ही नही सूझते। साहित्यिक रचनाओ के लिए एक खास वायुमण्डल चाहिए। पहले एकान्त फिर विचार-परिवर्तन, तत्पश्चात् एकान्त और फिर सम्मिलन।

साहित्यिक गोष्ठियो का महत्व इसीलिए है कि उनमे लेखको तथा कवियो को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क मे आने के अवसर मिलते है। ये गोष्ठिया महीने मे तीन बार से अधिक न होनी चाहिए, बल्कि बेहतर यही होगा कि वे पन्द्रह दिन बाद की जावे।

साहित्यिक गोष्ठियो के सचालको को कई वाते ध्यान मे रखनी चाहिए

**पहली वात**—यह कि ये गोष्ठिया प्राइवेट क्लव के रूप मे ही हो। एक भी अनधिकारी व्यक्ति उसके रस को भग करने के लिए पर्याप्त है। समानशील चार-पाच व्यक्ति मिलकर शेष दस-पन्द्रह व्यक्तियो का चुनाव कर सकते हैं। वीस सदस्यो से अधिक का प्रवन्ध करना वहुत मुश्किल हो जाता है।

**दूसरी वात**—यह कि वातचीत का विषय एक पखवाडे पहले ही निश्चित कर देना चाहिए, ताकि अन्य सदस्यो को भी उसपर विचार करने का अवसर मिल जावे।

**तीसरी वात**—यह कि किसी भी व्यक्ति को नियम से अधिक समय न मिलना चाहिए। मान लीजिये कि कवीन्द्र रवीन्द्र की रचनाओ के विषय मे वातचीत हो रही है। मुख्य वक्ता के लिए चालीस मिनट पर्याप्त होगे। यदि कोई दूसरे सज्जन कवीन्द्र के विपय मे विशेषज्ञ हो तो दस-पन्द्रह मिनट ले सकते हैं। शेप मे से किसी को पाच मिनट से अधिक न मिलने चाहिए। गोष्ठी का आनन्द तभी तक है जवतक किसी की तवीयत न ऊवने पावे।

**चौथी वात**—यह कि गोष्ठी अलग-अलग स्थानो पर होनी चाहिए। कभी किसी उपवन मे तो कभी नदी-तट पर और कभी किसी वैठक पर भी। ऐसी गोष्ठियो मे थोडा-वहुत खाने-पीने का प्रवन्ध अत्यन्त आवश्यक है, पर इन पार्टियो मे व्यय अधिक न होना चाहिए।

**पांचवीं वात**—यह कि इन गोष्ठियो की रिपोर्ट ले लेनी चाहिए और यदि आवश्यक समझा जाय तो उसका साराश किसी मासिक पत्र मे छपाया जा सकता है। साहित्यिक वार्तालापो मे कभी-कभी वडे उपयोगी सुझाव उपस्थित व्यक्तियो के सम्मुख आ जाते हैं। उनको लिपिवद्ध करने की जरूरत है।

साहित्यिको के लिए कोई भी विषय त्याज्य नही । राजनैतिक, सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी अथवा साहित्यिक समस्याओ पर विचार किया जा सकता है । हा, साम्प्रदायिक विषयो से यथासम्भव दूर रहना चाहिए, क्योकि उनसे व्यर्थ ही वाद-विवाद उठ खडा होगा और मनोमालिन्य उत्पन्न हो जायगा ।

लेखको की जन्म-तिथि और स्वर्गीय कवियो की पुण्य-तिथि मनाई जा सकती है । भिन्न-भिन्न लेखको की रचनाओ की आलोचना से अनेक विषय मिल सकते है ।

कई वर्ष पहले हमे यह विचार सूझा था कि पुस्तको का जन्मोत्सव मनाना चाहिए । विलायत मे तो अनेक ग्रथो की बिक्री पर क्लबो की चर्चा का अच्छा खासा असर पडता है । हमारे यहा तो शिक्षा की इतनी कमी है कि पुस्तको की खपत बहुत ही कम होती है । फिर भी चर्चा करने-कराने से कुछ तो प्रभाव पडेगा ही ।

कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने आत्म-चरित मे इस बात पर खेद प्रकट किया था कि अब साहित्यिक मजलिस की प्रथा बिलकुल उठ-सी गई है । लोग एक-दूसरे से मिलने जाते है, पर व्यापार, कारबार इत्यादि मतलब की बाते करने के लिए । बैठक पर सास्कृतिक या साहित्यिक वार्तालाप करने के लिए शायद ही कोई जाता हो । महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के उदारतापूर्ण आतिथ्य से उनके कुटुम्ब के बाल-बच्चो को कितना लाभ हुआ होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है । जो महानुभाव अपनी सन्तान के लिए सुसस्कृत वातावरण चाहते है, उन्हे अपने यहा विद्वानो को निमन्त्रित करना ही चाहिए ।

हिन्दी-भाषा-भाषियो मे जो साधन-सम्पन्न है, उनमे अधिकाश की रुचि इतनी परिमार्जित नही है कि वे अपने यहा सुरुचि-सम्पन्न साहित्य-सेवियो को निमत्रण दे सके । साहित्य-सेवियो के पास इतने साधन नही और बडे-बडे नगरो मे तो इतना स्थान भी नही, जहा दस-बीस आदमी बैठ सके । सुना है कि स्वर्गीय प० श्रीधर पाठक ने अपने निवास-स्थान पद्मकोट पर

साहित्यिक गोष्ठी के दो-एक अधिवेशन किये थे; पर सम्भवत. अपनी बीमारी के कारण आगे वे उस क्रम को चला नही सके।

इस प्रकार की साहित्यिक गोष्ठियो मे, यदि वे किसी एक ही साधन-सम्पन्न व्यक्ति द्वारा की जाती है, एक खतरा है, वह यह कि कही सरक्षकता का भाव उनमे प्रवेश न कर जाय। उस दशा मे वे मध्यकालीन युग के दरवारी चापलूसो की बैठक वन जावेगी।

सच्चे साहित्यिक स्वाधीन सिहो की तरह ह और उन्हे पालतू बनाकर सरकस खेलने का प्रयत्न हास्यास्पद है।

स्फूर्तिप्रद सम्भाषण दुर्लभ वस्तु है। निम्न कोटि के मजाक करनेवाले गप्पी आदमियो की वात हम नही कहते, क्योकि वे तो सर्वत्र सुलभ है। हमारा अभिप्राय उन आदमियो से है, जिनके वचनो के पीछे कोई दृढ व्यक्तित्व है और जो अपने जीवन मे कोई हृदय भी रखते है। सुकरात से किसी बुद्धिमान पुरुष ने कहा था, "जीवन की माप उन घटो से है जो आप जैसे महापुरुषो से सम्भाषण करते हुए बीते हो।" यदि हम हिसाव लगाने बैठे तो पता लग जायगा कि जीवन भर मे ऐसे दिनो की सख्या कितनी कम है जब हमे उत्साहप्रद बातचीत सुनने के लिए मिली हो। वास्तव मे भारत का वह युग सतयुग था, जब भगवान महावीर या भगवान गौतम बुद्ध जगम तीर्थो के रूप मे इस भूमि को पवित्र कर रहे थे। आज भी भिन्न-भिन्न धर्मो के उपदेशक उनकी नकल कर रहे है, पर उनमे से अधिकाश की वाणी ओजहीन है। मूर्ख जनता को छोडकर और कोई उनसे प्रभावित नही हो सकता। घटे भर की वातचीत से आपको पता लग सकता है कि धर्म का धधा करनेवाले ये महानुभाव मनुष्यता की सबसे नीची सीढी पर खडे हुए है, बल्कि यो कहना चाहिए कि बैठे है। मुख्य प्रश्न यह नही है कि आप क्या कहते है, पर यह कि आप क्या करते है?

जिन व्यक्तियो के मन, वचन और कर्मो मे सामजस्य है, उन्हीके सदुपदेशो को हम प्रवचन के नाम से पुकार सकते है।

कैण्ट भोजन के समय कम-से-कम तीन और अधिक-से-अधिक पाच

आदमियो को अपने यहा प्रतिदिन न्यौता देते थे। ये लोग भिन्न-भिन्न पेशो के अथवा भिन्न-भिन्न विषयो मे रुचि रखनेवाले होते थे, पदाधिकारी, प्रोफेसर, धार्मिक पुरुष, सुसस्कृत व्यापारी इत्यादि। नवयुवको तथा विश्व-विद्यालय के योग्य विद्यार्थियो को खास तौर पर निमन्त्रित किया जाता था। इसका उद्देश्य यही था कि वार्तालाप भिन्न-भिन्न विषयो पर हो, उसमे रूखापन अथवा एकरसता न आने पावे और साथ ही वह गम्भीर भी बहुत न बन जावे। जिस किसी को कैण्ट के यहा भोजन करने का न्यौता मिल जाता था, वह अपने को अत्यन्त सौभाग्यशाली मानता था। तीन-चार घटे तक वार्तालाप होता रहता था। किसी की तबीयत ऊबने नही पाती थी। ऐसे अवसर पर कैण्ट अपनी विद्वत्ता को ताक पर रखकर साधारण भाषा मे ही बातचीत करते थे। क्या मजाल कि एक भी दम्भपूर्ण बात उनके मुख से निकल जाय। नवीन आगन्तुक को तो यह देखकर आश्चर्य होता था कि इस प्रकार हसी-मजाक करनेवाला व्यक्ति क्या कभी महान् दार्शनिक कैण्ट हो सकता है! कैण्ट ने यह नियम बना लिया था कि वे दर्शन-शास्त्र की उस शाखा की, जिसके कि वे अधिष्ठाता थे, चर्चा अपनी मेज पर कभी नही होने देते थे। अन्य प्रकार के विचार रखनेवालो के प्रति उनका बर्ताव पूर्ण सहिष्णुता का रहता था। दूसरो की तबीयत उबाने का सबसे सरल तरीका यह है कि आप अपने विषय की ही चर्चा करते रहे।

एडवर्ड कार्पेटर की बातचीत का ढग दूसरा ही था। वे व्यक्तियो से अलग-अलग बातचीत करते थे। टहलने मे कभी किसी को साथ ले लेते थे तो कभी किसी को। चूकि कारपेण्टर महोदय नगर से आठ मील की दूरी पर रहते थे, इसलिए उनके पास बहुत कम आदमी पहुच पाते थे, फिर भी उनकी कीर्ति इतनी व्यापक हो गई थी कि कितने ही पुरुष और स्त्रिया वहा पहुच ही जाते थे।

ए० ई० के यहा शनिवार अथवा रविवार को सन्ध्या समय साहित्यिक दरबार लगा करता था। ए० ई० उन व्यक्तियो मे से थे, जिन्होने अपनी मानसिक स्वाधीनता के लिए गरीबी का जीवन स्वीकार कर लिया था—

उनकी आमदनी सवासौ पये महीने से अधिक नही थी—इसलिए वे ही व्यक्ति उनके यहा पहुचते थे, जिनको सर्वोच्च कोटि के मानसिक भोजन की रुचि थी। नवयुवक लेखको तथा लेखिकाओ को प्रोत्साहन देना ए० ई० के जीवन का एक मुख्य कार्य था। स्वर्गीय कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के सम्भाषणो और प्रवचनो को जिन्होने सुना है अथवा जो गान्धीजी के प्रात कालीन उपदेशो को सुन चुके है, उन्हे साधारण सम्भाषणो मे भला क्या आनन्द आ सकता है! आचार्य गिडवानीजी का सम्भाषण भी वहुत मनोरजक होता था। माननीय श्रीनिवास शास्त्री की शिष्ट वातचीत का क्या कहना!

यहा हम अपनी रुचि की एक वात कह दे। कोरी शिष्टाचार वाली वातचीत हमे विलकुल कृत्रिम जचती है। जहा पर किसी प्रकार का वन्धन है, कृत्रिमता है अथवा दिखावट है वहा उच्च कोटि का स्फूर्तिप्रद वार्तालाप हो ही नही सकता।

यद्यपि हम साहित्य-सेवियो के लिए गोष्ठियो की आवश्यकता मानते हैं, पर एकान्त उनके लिए और भी ज्यादा जरूरी है। उस साहित्यिक से अधिक दयनीय कोई भी अन्य प्राणी नही जो दूसरो के मनोरजन का साधन वन जाय। थॉरो से जव कभी कोई कहता था कि मैं आपके साथ टहलने के लिए चलना चाहता हू तो वे प्राय अस्वीकार ही कर देते थे। हम लोगो को यह वात न भूलनी चाहिए कि गोष्ठी अथवा एकान्त दोनो का उद्देश्य एक ही होना चाहिए, अपने-अपने व्यक्तित्व का विकास। जो भी चीज इसमे वाधक हो, उसे तुरन्त त्याग देना चाहिए। पालतू अथवा फालतू प्राणियो का सग्रह करना हमारा लक्ष्य थोडे ही है। इस दुनिया मे ऐसे महानुभावो की सख्या कम नही है जो दिन भर खूव पैसा कमाकर शाम को किसी साहित्य-सेवी के द्वारा अपना मनोरजन करना चाहते है।

जिस किसी को गम्भीर और ठोस साहित्य-सेवा करनी है, उसे अपने समय की रक्षा करनी पडेगी चाहे निरर्थक आगन्तुको के साथ उसे अशिष्टता का वर्ताव ही करना पडे। सर जदुनाथ सरकार जितने वर्ष पटने मे रहे,

उन्होने किसी फालतू आदमी को अपने घर मे नही घुसने दिया । न्यूयार्क के एक सम्पादक ने यह नियम बना लिया है कि जब कोई उनसे मिलने आता है तो वे उसे टहलने के लिए साथ ले लेते है और मीलो तक उसे घसीट ले जाते है । राजर्षि गोखले के गुरु न्यायमूर्ति रानडे ने एक और ही नियम बना लिया था । जभी कोई आता वे कहते, "बहुत अच्छे आये । लीजिये यह काम तो कीजिये । यहा-से-यहा तक नकल कर दीजिये ।" इत्यादि ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । सम्भाषण उसके लिए जरूरी है, लेकिन वह होना चाहिए उच्च धरातल पर । जो लोग उच्च धरातल पर नही मिल सकते, वही अपने सामान्य व्यसनो के द्वारा मिलते है । चौबो का मिलना स्वादिष्ट भोजन की ज्यौनारो मे होता है, शराबियो का मयखाने मे और चाय के पियक्कडो का टी-स्टाल पर । ताश और शतरज के खिलाडी जगह-जगह बैठे मिलते है, पर साहित्य-गोष्ठी इनसे कुछ अलग ही चीज है । इससे यह अभिप्राय नही है कि ये गोष्ठिया नीरस अथवा शुष्क धार्मिक बना दी जाय । गोष्ठी यदि सरस नही तो फिर उसका सारा रग ही फीका हो जायगा । हम केवल इतना ही कहना चाहते है कि इन गोष्ठियो मे निरुद्देश्य आदमियो की भर्ती हर्गिज न होनी चाहिए ।

आज जब कि सम्पूर्ण देश मे एक भिन्न प्रकार का वायु-मडल तैयार हो रहा है, हमे एक बात हर्गिज न भूलनी चाहिए, वह यह कि हमारे विनोद तथा आनन्द सर्वथा निर्दोष हो और उनमे किसी प्रकार का भी हलकापन न आने पावे । जैसा कि हम पहले लिख चुके है, साहित्यिको के लिए कोई भी विषय त्याज्य नही, पर उस विषय पर जो वाद-विवाद हो, उसमे तदनुरूप गम्भीरता होनी चाहिए ।

साहित्यिको को हम वास्तविक ब्राह्मण मानते है, फिर चाहे वे किसी धर्म,मजहब या फिरके के क्यो न हो, और ब्राह्मणत्व की काफी जिम्मेदारिया है । जिस प्रकार क्षत्रिय अथवा योद्धा जान देने को तैयार रहते है, उसी प्रकार जबतक साहित्यिक लोग अपने सिद्धान्तो की बलि-वेदी पर कुर्बान होने के लए उद्यत नही, तबतक वे अपनी वृत्ति के लिए सर्वथा अनधिकारी

है। जिन सम्भाषणो, प्रवचनो तथा गोष्ठियो का जिक्र हमने किया है वे सच्चे साहित्यिको की ही होगी। हलके दर्जे के मजाको, सस्ते निमत्रणो अथवा कोरमकोर गप्पाष्टको से तो हमारी सस्कृति का धरातल नीचा हो जायगा। उस स्थिति मे सच्चे साहित्यिक के लिए एकान्त-वास ही सर्वोत्तम चीज है। भगवान गौतम बुद्ध ने ठीक ही कहा था —"एकस्य चरित श्रेयो नास्ति वाले सहायता।" अर्थात्—मूर्खो के सहयोग की अपेक्षा यही उत्तम है कि अकेला विचरे।"

: १२ :

# साहित्यिक भिक्षु

कुछ किताबे ऐसी है, जिन्हे मै अपने मनोरजन के लिए बार-बार पढा करता हू। सुप्रसिद्ध चीनी लेखक लिन यु टाग की 'जीवन का महत्त्व' (Importance of Living) उन्ही ग्रन्थो मे से एक है। उस पुस्तक मे 'सिग लिया उत्स की यातनाए' शीर्षक एक अध्याय है, जिसमे उस चीनी भिक्षु के भ्रमण का मनोरजनक वृत्तान्त दिया गया है। चीज बडे मजे की है। भिक्षु महोदय घर से निकल पडते है और तीन वर्ष तक बराबर यात्रा किया करते है। आत्मज्ञान ही उनका उद्देश्य है, पर उनका दृष्टिकोण हमारे साधु-सन्यासियो की तरह नीरस नही। रास्ते मे वे खाते, पीते, मौज करते चलते है। युक्ताहार-विहार की नीति के पक्षपाती है, सो कभी-कभी पी भी लेते है। कही कवि-सम्मेलन हुआ तो वे उसमे शामिल हो जाते है और अपनी कविता भी सुना देते है। उनका जीवन सयत है तथा दृष्टिकोण दार्शनिक और उसमे दम्भ का कोई नामोनिशान नही।

इस अध्याय को पढकर हमारे मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि क्या हमारे साहित्य को इस प्रकार के दम्भहीन भिक्षुओ की आवश्यकता नही ?

भिक्षु का आदर्श भारतीयो की रग-रग मे व्याप्त है। 'चरथ भिक्खवे चारिक बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय ' इत्यादि शब्दो द्वारा भगवान् बुद्ध ने अपनी शिष्य-मण्डली को मानव-समाज के कल्याण के लिए भ्रमण करने का आदेश दिया था। सहस्रो ही भिक्षुओ ने उनकी आज्ञा का पालन कर देश-विदेशो की यात्रा की, सैकडो ही इस प्रयत्न मे मर मिटे, पर उन्होने वह काम कर दिखाया, जो ससार के इतिहास मे अद्वितीय है।

इस प्रसग मे हमे श्री देवीप्रसाद राय चौधरी के एक चित्र 'कुमारजीव की चीन-यात्रा' का स्मरण आ रहा है। इस चित्र मे हमे कुमारजीव तथा अन्य तीन भिक्षुओ के दर्शन होते है, जो धर्म-प्रचारार्थ चीन-यात्रा के उद्देश्य से हिमालय की ओर जा रहे है। हिमालय की वर्फ से ढकी हुई चोटिया दूर से दीख रही है। मार्ग वडा भयकर है, पर भिक्षु लोग दृढ आशा के साथ कदम वढाते हुए चले जा रहे है। इन कुमारजीव ने चीन पहुचकर चीनी साहित्य के लिए जो महान् कार्य किया, उसे इतिहास के प्रेमी भली-भाति जानते है। उन्होने चीनी भाषा पर अद्भुत अधिकार प्राप्त कर लिया और लगभग सौ महत्वपूर्ण सस्कृत ग्रन्थो का चीनी भाषा मे अनुवाद किया और इस प्रकार चीनी भाषा मे अपना नाम अमर कर लिया और भारत के गौरव को ससार की दृष्टि मे कही ऊचा उठा दिया।

आधुनिक काल मे भी स्वर्गीय भिक्षु अखण्डानन्द तथा महापडित राहुलजी ने जो कार्य कर दिखाया है, उससे किसी भी साहित्यिक को प्रेरणा मिल सकती है। पर किसी साहित्यिक भिक्षु के लिए कपडे रगाने की आवश्यकता नही। हा, उसका मन साहित्य-प्रेम से अनुरजित अवश्य होना चाहिए।

भारत मे त्याग तथा तप की भावना के लिए जो महान् श्रद्धा सहस्रो वर्ष से चली आ रही है वही किसी साहित्यिक भिक्षु के लिए सबसे वडा सहारा है। यहा लखपति साहित्यिक कभी वैसी लोकप्रियता प्राप्त नही कर सकता, जो किसी भिक्षु को मिल सकती है। विदेशो की वात दूसरी है। और विदेशो मे भी महान् लेखको का लक्ष्य अर्थप्राप्ति नही रहा।

ए० ई० ने अपने किसी मित्र को एक पत्र मे लिखा था

"आपने अपनी पुस्तक मे एक वात वडे मार्के की लिखी है और वह मुझे सत्य, कल्याणकारी और वुद्धिमत्तापूर्ण जची, यानी आपने कलाकारो और कवियो को यह आदेश दिया है कि वे स्वेच्छापूर्वक निर्धनता का व्रत ग्रहण कर ले। आयरलड मे हम सभी गरीब है और इससे हममे से किसी का कुछ नुकसान नही हुआ। मेरे जीवन के सबसे अधिक आनन्ददायक दिन वे

हिन्दी के राष्ट्रभाषा-पद प्राप्त हो जाने के वाद यह सर्वथा स्वाभाविक है कि अनेक मनचले प्रकाशको और लेखको के मन मे यह भावना उत्पन्न हो कि इस परिस्थिति से लाभ उठाना चाहिए। साहित्य-सरोवर के इन मगरमच्छो की यात्रा से जनता को कोई लाभ नही ।

हमारी साहित्यिक भिक्षु की कल्पना इससे विलकुल भिन्न ही है। कही वे पुस्तकालय खुलवायेगे तो कही हिन्दी की सस्थाओ के उत्सव करायेगे और कही वसन्त व्याख्यानमाला का आयोजन। कही वे हिन्दी अध्यापको का सगठन करेगे तो अन्यत्र अपने अनुभवो से नवीन लेखको को प्रोत्साहित करेगे। प्राचीन लेखको तथा कवियो के साहित्यिक श्राद्ध की व्यवस्था उनका एक उद्देश्य होगा। एक काम वे कभी नही करेगे —अपने लिए या अपनी किसी सस्था के लिए चन्दा ! और उनकी सम्पूर्ण सेवा स्वाभाविक ही होगी, किसी पर अहसान लादने के लिए नही ।

अन्य प्रान्तो मे जहा प्रान्तीय भाषाओ का वोलवाला है, हमे अपने सर्वोत्तम व्यक्ति ही भेजने चाहिए। यदि हमने निम्नकोटि के आदमी भेजे तो हमारी राष्ट्रभाषा के गौरव को वह धक्का लगेगा, जिससे वह कभी न पनपेगी ।

हम जहा कही भी जाय सीखने की भावना से जाय। विनम्रता और शिष्यत्व की भावना की हमे आज सवसे अधिक जरूरत है । विश्व की भाषाओ मे हिन्दी को स्थान दिलाने के स्वप्न जो लोग देखा करते है, क्या उन्होने कभी यह कल्पना भी की है कि उसके लिए हमे कितनी साधना करनी पडेगी, कितना त्याग करना पडेगा ?

एक ओर जहा हमे गौरीशकर हीराचद ओझा और काशीप्रसाद जायसवाल उत्पन्न करने होगे तो दूसरी ओर सैकडो हिन्दी मिशनरी भी। महात्मा गाधी की वह वात मुझे अभी तक याद है जो उन्होने आज से तीस वर्ष पूर्व सावरमती आश्रम मे कही थी। वडे खेद के साथ उन्होने कहा, "मुझे हिन्दी के मिशनरी चाहिए, जो तुम्हारे यहा नही मिलते। महाराष्ट्र मे मिशनरी स्पिरिट वाले युवक खूब मिलते है। मेरे पास पटवर्धन था जो पन्द्रह

रुपये मे गुजर करता था। मै चाहता हू कि तीस-तीस रुपये देकर हिन्दी के सैकडो प्रचारको को गुजरात मे भर दू, पर वे मुझे मिलते कहा है ?" महात्मा-जी के इस प्रश्न का उत्तर मौन के सिवाय और क्या हो सकता था ?

एक बार सेवाग्राम मे—यह सन् १९४५ की बात है—मैने महात्मा-जी की सेवा मे निवेदन किया

"महात्माजी, आप दस-बारह लाख रुपये इकट्ठे कीजिए और उत्तर-भारत के दिल्ली जैसे केन्द्रीय स्थल मे दक्षिण भारत की भाषाओ के अध्ययन, अध्यापन का प्रबन्ध कर दीजिए। तमिल, तेलुगु, मलायलम और कन्नड भाषा के पढाने का कोई इन्तजाम हमारे यहा नही है।"

इसपर महात्माजी ने कहा, "बात तो तुमने मेरे मन की कही है और दस-बारह लाख रुपये जमा कर देना भी मेरे लिए कोई मुश्किल काम नही। पर सवाल यह है कि इस काम को उठानेवाला तुम्हारे यहा है कौन ? जीव-राज मेहता मुझे मिल गए तो मैने कमला नेहरू अस्पताल का काम पूरा करा दिया। उन्हीकी तरह का योग्य आदमी मुझे मिल जाय तो उत्तर भारत मे दक्षिण की भाषाओ के अध्यापन का काम भी हो सकता है।" महात्मा-जी उपरोक्त कोटि के यज्ञो के लिए होताओ की तलाश मे रहते थे। हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिए उन्होने जो महान् कार्य किया, तदर्थ उनका नाम भारतीय इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखा जायगा। अब हमारा कर्त्तव्य है कि उनके प्रारम्भ किये यज्ञो के लिए याज्ञिक तैयार करे। मेरा यह निवेदन है कि परिव्राजक ही ऐसे याज्ञिक बन सकते है। अग्रेजी की एक कविता इस प्रसग मे हमे याद आ रही है

"If you give all and life retain
I say all youi gift is in vain"

अर्थात्—"यदि तुम अपना सर्वस्व-दान कर दो, पर अपना जीवन अपने लिए सुरक्षित रखो तो मै कह सकता हू कि तुम्हारा वह सर्वस्वदान निरर्थक है।"

हमारी राष्ट्र-भाषा की माग है ऐसे व्यक्तियो से, जो अपना जीवन ही

उनके लिए अर्पित कर सके, पर होने चाहिए वे सजीव व्यक्ति। बहुधन्धी साहित्यिक मठाधीश, जिन्होने संस्थाए पाल रक्खी है, राष्ट्र-भाषा के लिए अधिक काम न कर सकेगे।

राजनैतिक क्षेत्र मे जिस प्रकार सैकडो, सहस्रो भारतीयो ने अपने जीवन को खपा दिया, उसी प्रकार साहित्य और सस्कृति के क्षेत्र मे भी अपने को खपानेवाले व्यक्ति हमे चाहिए।

सन् १९१५ मे हमे पहले पहल शान्तिनिकेतन जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और तबसे लेकर १९४० तक न जाने कितनी बार हमने उक्त साहित्यिक तीर्थ की यात्रा की थी। इस बीच पचासो ही बार हमने कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन किये थे और यह देखकर हमे निरतर आश्चर्य होता रहा कि वे किस प्रकार अपने को खपा रहे है। गुरुदेव को अनेको यात्राए अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए करनी पडी। यद्यपि अपनी सस्था के लिए उन्हे कभी-कभी चन्दा भी करना पडा, पर यह कार्य उनकी रुचि के सर्वथा प्रतिकूल ही था।

सस्थाओ के हम विपक्ष मे नही है, हमारा कहने का अभिप्राय यही है कि किसी साहित्यिक भिक्षु के लिए वे प्राय बन्धन ही हो सकती है।

जिस कोटि के साहित्यिक भिक्षुओ की बात हमने लिखी है वे मिले कहा? यह सवाल बडा टेढा है। इसका जवाब एक ही हो सकता है —

"जिस आदमी की तुम तलाश मे हो, वह खुद ही बन जाओ"।

## १३

# एक स्वप्न

सुप्रसिद्ध अमरीकन लेखक थॉरो ने एक महत्वपूर्ण पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है 'वाल्डन'। इस पुस्तक मे एक जगह लिखा है, "अपने प्रयोग से कम-से-कम एक वात मैने सीखी है। वह यह कि कोई व्यक्ति उस दिशा मे जिसकी उसने स्वप्न मे कल्पना की थी, विश्वासपूर्वक आगे वढता रहे, ओर अपने कल्पित जीवन के अनुसार अपनी जिन्दगी और रहन-सहन को वना ले तो उसे आगे चलकर ऐसी सफलता मिलेगी, जिसकी आशा उसने साधारण तौर पर कभी न की थी। वह कुछ चीजो को पीछे छोड देगा और अदृश्य सीमाओ का उल्लघन कर जायगा। नवीन और विश्वव्यापी तथा अधिक उदार नियम उसके हृदय मे तथा उसके चारो ओर कायम होने लगेगे अथवा पुराने नियमो का विकास उसकी परिस्थिति के अनुकूल होने लगेगा और उच्चकोटि के प्राणी की भाति रहने की स्वतत्रता उसे मिल जायगी। जितने अश मे वह अपने को सादा वनाता जायगा, दुनिया के कानूनो की उलझने उसके लिए सुलझती जायगी। एकान्त उसके लिए एकान्त न रहेगा। निर्धनता निर्धनता न रहेगी, कमजोरी कमजोरी न रह जायगी। अगर तुमने हवाई महल वनाये है तो कोई मुजायका नही। इससे तुम्हारा कार्य नष्ट नही होगा। महल तो हवा मे ही वनाये जाने चाहिए। वस, अब उसके नीचे नीव रख दो।"

वर्षो से थॉरो के 'वाल्डन' को मै उषाकाल के स्वाध्याय के तौर पर पढता रहा हू और अपने हवाई महल वनाता रहा हू। ये महल वनते और बिगडते रहे है।

मेरी कल्पना का एक हवाई महल वास्तविक जगत मे अभी तक

अवतीर्ण नही हो सका और इसका कारण मै अपनी साधना की कमी ही मानता हू। पर मुझे विश्वास है कि वह कमी कभी-कभी मूर्तिमान होकर रहेगी। यह दूसरी बात है कि उसे साक्षात करने का श्रेय किसी समान-शील और समान धर्म वाले नवयुवक साहित्यिक को प्राप्ति हो। वह नवयुवक आज किसी विद्यालय मे पढ रहा होगा अथवा किसी पत्र के कार्यालय मे काम कर रहा होगा। मै उसका हृदय से अभिनन्दन करता हू।

मेरा हवाई महल एक साहित्योपवन के रूप मे है। चूकि ईट, चूना, सीमेट और पत्थर को हम अधिक महत्व नही देते, इसलिए हमारे कल्पित साहित्योपवन मे केवल एक ही पक्का भवन है जिसके पाच विभाग है। स्वर्गीय प्रोफेसर गीडीज इस विषय मे मेरे आदर्श है। उन्होने एडिन-बरा मे एक पचतल्ला मकान बनवा दिया था। उसका नाम था 'आउटलुक टावर'। उसका ढाचा मुझे पसन्द आया है। फर्क इतना ही है कि मैने अपने हवाई महल को वन और जलाशय के निकट मुक्ताकाश के नीचे बनाया है।

सबसे ऊचे तल्ले पर बैठकर मै अपने स्थल तथा जनपद की साहित्यिक गतिविधि का अध्ययन करता हू। बहुत दिन पहले से यह बात मेरी समझ मे आ गई थी कि मेरे जैसे एक साधारण साहित्यिक के लिए अपने जनपद का कार्य ही पर्याप्त है। अखिल भारतीय साहित्यिक हिन्दी जगत मे एक दर्जन भी न होगे। अपनी सीमा को जान लेने—अपनी परिस्थितियो का अन्दाज लगा लेने—मे ही हम सबका कल्याण है। अन्य जनपदो मे अपने क्षुद्र जीवन के तैतीस वर्ष गवाकर मैने ब्रजमडल को ही अपना कार्य-क्षेत्र मान लिया है। कहने की आवश्यकता नही कि मेरा यह हवाई महल ब्रज मे या उसकी सीमा के आसपास ही विद्यमान है।

घोर दुर्भाग्य की बात है कि आज ब्रज रेगिस्तान बनता जा रहा है। हम ब्रजवासियो के पूर्वजो ने वनो को नष्ट करके अपनी हरी-भरी भूमि को मरुस्थल मे परिवर्तित कर दिया था और उनके दुष्परिणाम हम लोग—उनके वशज—भोग रहे है।

आज से कितने वर्ष पूर्व ब्रज-कोकिल सत्यनारायण ने द्रवित हृदय से कहा था,

देखन को बस रह गये मधुवन सेवा कुञ्ज

और आज प्रत्येक ब्रजवासी का कर्त्तव्य है कि वह अपने जनपद को पहचाने और फिर उसे प्राचीन काल की तरह हरा-भरा बनाने का प्रयत्न करे। यदि रूस के साम्यवादी लोग अपने मास्को नगर में लाखों वृक्ष उगाकर उसे संसार की सबसे हरी-भरी राजधानी बनाने जा रहे हैं तो क्या हम लोग मथुरा, वृन्दावन, आगरा, भरतपुर तथा फीरोजाबाद में बीसियों उपवनों की स्थापना करके उनके सौन्दर्य तथा स्वास्थ्य में वृद्धि नहीं कर सकते ?

अपने साहित्योपवन से जो प्रथम ग्रन्थ मैं प्रकाशित कर रहा हूँ वह है ब्रज-अभिनन्दन-ग्रन्थ। लोगों का गुणगान करने की बजाय अब हमें अपने-अपने जनपदों का अभिनन्दन करना चाहिए। ब्रजभूमि के सुन्दर-सुन्दर स्थलों की खोज कर ली गई है और उनकी रक्षा करने की योजना बना ली गई है। हमारे साहित्योपवन की तरह की बीसियों संस्थाएं ब्रज में उत्पन्न हो गई हैं और वे एक-दूसरे के अधीन न होकर पूर्ण स्वाधीनता के साथ एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं।

अपने साहित्योपवन को मैं प्रगतिशील रखने के पक्ष में हूँ। मैं उन दकियानूसी आदमियों में से नहीं हूँ जो आधुनिक वैज्ञानिक जगत की सुविधाओं से लाभ उठाने में हिचकिचाते हैं। साहित्योपवन में रेडियो भी है और टेलीफोन भी। चूंकि हम लोगों के पास स्थान की कमी नहीं है, साहित्यिक कार्यकर्त्ताओं की कुटीरें एक-दूसरे से काफी दूर बनी हैं, जिससे वह एक-दूसरे के मार्ग में बाधक न हों। प्रत्येक के व्यक्तित्व का सम्मान किया जाता है और उनकी भिन्न-भिन्न रुचियों का ख्याल रखा जाता है। न कोई शासक है, न कोई शासित। सबके अधिकार सुरक्षित हैं। साहित्योपवन में अभी पन्द्रह-बीस साहित्यिक रहते हैं। स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियम भी अनिवार्य रखे गये हैं, इसलिए प्रातःकाल वन-भ्रमण में सभी

सम्मिलित है। मेरा कार्यक्रम सुन लीजिये।

उषाकाल है। प्रातकालीन चाय के साथ मै किसी स्वाध्याय-ग्रन्थ का अध्ययन कर रहा हूँ और उस समय जो विचार आते है उन्हे नोट करता जाता हू। स्वर्गीय लाला हरदयाल ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'आत्म-सस्कृति के उपाय' (हिन्ट्स फार सेल्फ-कलचर) मे ध्यान की जो पद्धति वताई है,वह मुझे प्रिय है। ससार की प्रगतिशील शक्ति के जगत् मे जो भी आन्दोलन उसकी आध्यात्मिक, सामाजिक, शारीरिक और आर्थिक उन्नति करने के लिए हो रहे है उनका, जो लोग इस समय दुखी है उनका, और जो सघर्षमय जीवन विता रहे है उनका, मै प्रात काल के समय ध्यान करता हू। ध्यान के वाद नित्य नैमित्तिक क्रियाओ से निवृत्त होकर हम लोग वन-भ्रमण के लिए जाते है। कोई एक दिशा मे जाता है तो कोई दूसरी दिशा मे। एक वटवृक्ष की छाया मे एकत्रित होकर दिनभर के कार्य का प्रोग्राम निश्चित किया जाता है

क महाशय आज जनपदीय लोकवार्त्ताओ का सम्पादन करेगे।

ग प्रान्त की नदियो के जीवन-चरित का मसाला इकट्ठा करेगे और यमुना नदी के विषय मे एक लेख लिखकर किसी मासिक तथा साप्ताहिक पत्र को भेजेगे।

घ स्वर्गीय साहित्यिको की जन्म-तिथियो और पुण्यतिथियो का व्यौरा तैयार करेंगे।

च अमरीकन डाइजेस्ट के महत्वपूर्ण लेख का अनुवाद करेगे।

छ वगला के प्रवासी के प्रमुख लेख का अनुवाद करेगे

ज इन लेखो की वारह-वारह प्रतिया टाइप कराके भिन्न-भिन्न पत्रो को भेजेगे।

झ पाक्षिक साहित्य-गोष्ठी के लिए कार्यक्रम तैयार करेगे।

ट इस महीने के सर्वोत्तम साहित्यिक ग्रन्थ का परिचय लिखेगे।

ठ भिन्न-भिन्न पत्रो मे प्रकाशित साहित्यिक लेखो की कतरन लेकर विषयानुसार रजिस्टरो मे चिपकायगे।

ड अपने तथा पास-पडोस के जनपदो के साहित्यिको की यात्राओ के वारे मे पूछताछ करेगे ।

ढ इस ऋतु के लिए, घुमक्कड-दलो का आयोजन करेगे ।

त अन्य प्रान्तीय भाषा मे निकलनेवाले साहित्य का विवरण एकत्रित करेगे ।

थ पुस्तकालय के लिए नवीन ग्रन्थो को मगाने का प्रवन्ध करेगे ।

द आज सन्ध्या की साहित्य-गोष्ठी का इन्तजाम करेगे ।

ध आस-पास के ग्रामो की यात्रा का प्रवन्ध करेगे ।

इस प्रकार पारस्परिक सलाह-मशविरे द्वारा अपना-अपना कार्यक्रम निश्चित करके हम लोग अलग हो जाते है । एक आम्र निकुन्ज के नीचे वैठ-कर मै अपना साहित्यिक कार्य प्रारम्भ करता हू । 'सस्ता साहित्य मडल' ने उन विदेशी महापुरुपो के जीवन-चरित तथा ग्रन्थ छपाने का निश्चय कर लिया है, जिनका प्रभाव महात्मा गाधी की विचारधारा पर पडा था । एमर्सन की जीवनी मुझे लिखनी है । 'वाल्डन' का अनुवाद हमारे एक साथी कर रहे है और टाल्सटाय तथा गैरीसन के जीवन-चरितो का सम्पादन हो चुका है । मेरे चारो ओर हरियाली-ही-हरियाली है । रहट चल रहा है और उपवन के वृक्षो को पानी दिया जा रहा है । चिडिया चहचहा रही है । आमो का रखवाला गोफन मे भर-भर कर मिट्टी के ढेले चला रहा है । काम करते-करते तवियत कुछ ऊवती है तो टहलने लगता हू, अथवा किसी मनोरजक ग्रन्थ से मन-वहलाव करने लगता हू । जव कि मै ये पक्तिया लख रहा हू, दो ग्रन्थ मेरे पास विद्यमान है । काउन्ट केसरलिग की एक तो 'टेविल डायरी आव ए फिलास्फर' और दूसरी 'यू मस्ट रिलीज़।'

कभी मन मे उमग आ गई तो पत्र लिखना आरम्भ कर दिया । जो वाते लेख लिखते समय नही सूझती, प्राय किसी सहृदय मित्र को चिट्ठी लिखते समय सूझ जाती है ।

जीवन को हम एकागी नही वनाना चाहते है और न वुद्धिजीवियो को श्रमजीवियो से अलग रखना चाहते है । हमारा यह दृढ विश्वास है कि

जो भी साहित्यिक अपने आसपास की जनता की क्रियात्मक सेवा से अपने को वचित रखता है वह स्वय अपने को पगु वनाता है। जवतक वुद्धिजीवी लोग श्रम करना न सीखेगे और श्रमजीवियो को अपने मस्तिष्क के विकास की सुविधाए न मिलेगी, हमारी यह मातृभूमि सुखी तथा समृद्धशाली न वन सकेगी। पर हमारा विश्वास श्रम-विभाजन मे है। जो मनुष्य जिस काम को भली-भाति कर सकता है और जिसमे उसकी स्वाभाविक रुचि हो, उसे वही काम सौपना चाहिए।

अपने साहित्योपवन मे साहित्यिक बिजली-घर वनाने के लिए उत्सुक हू, जहा से ठोस तथा प्रचारात्मक साहित्य भिन्न-भिन्न केन्द्रो को भेजा जा सके। मानसिक भोजन को मै अन्न-वस्त्र की समस्या के वाद सर्वोच्च स्थान देता हू। केवल रचनात्मक कार्य, यदि उसके साथ साहित्य-सगीत-कला का समावेश नही किया गया, जीवन को शुष्क ही वना देगा।

मन मे एक प्रश्न उठता है। पन्द्रह-वीस करोड हिन्दी-भाषा-भाषी तथा हिन्दी-प्रेमियो मे क्या पन्द्रह नवयुवक भी ऐसे न निकलेगे, जो पन्द्रह-वीस वर्ष मे इस स्वप्न को चरितार्थ करके दिखा सके ?

मानव-जीवन मे स्वप्नो का जो महत्व है, उससे कौन इन्कार कर सकता है ? जो जातिया स्वप्न नही देख सकती—भविष्य की कल्पना नही कर सकती—वे नष्ट हो जाती है। यदि हम अपने देश की आत्मा को सजीव वनाये रखना चाहते है तो हमे एक-दो नही, वीसियो छोटे-वडे साहित्योपवन वनाने होगे।

पर जातियो तथा जनप ो, देशो और सस्थाओ से भी ऊपर की एक चीज है, और वह है स्वय अपनी आत्मा। आज के युग मे उसी की स्वाधीनता को सवसे वडा खतरा है।

हमारा हवाई महल ह जाता है। साहित्योपवन सूख जाता है। पर ससे हम निराश क्यो हो ? किसी नीम वृक्ष के नीचे वैठकर हम उसी के स्वप्न देखेगे और यदि साहित्योपवन न भी वन सका तो नीम निकुन्ज तो वन ही जायगा।

: १४ :

# वसन्तोत्सव कैसे मनाया जाय?

जब किसी जाति मे नियात्मक कल्पना-शक्ति का अभाव हो जाता है तो वह अपने प्राचीन गौरव का गान करने और पुराने रीति-रिवाजो की निर्जीव नकल करने मे ही अपने जीवन को सार्थक समझने लगती है। बाह्य आडम्बरो की रक्षा को वह अधिक आवश्यक समझती है और आन्तरिक भावना को उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। यदि इस कथन के लिए दृष्टान्त चाहिए, तो हमारे उत्सवो को देख लीजिए। इन उत्सवो के मनाने की विधि के भद्देपन को देखकर यही प्रतीत होता है कि हम लोग सचमुच 'साहित्य-सगीत-कला-विहीन' हो गये है। हम लोगो में कुछ-न-कुछ श्रद्धा अवश्य है, पर हम उसे उचित रूप से प्रकट नही कर सकते। देश के भिन्न-भिन्न स्थानो मे वसन्तोत्सव मनाये जाते है और थोडा-बहुत पैसा भी खर्च किया जाता है। यदि इसे ढग के साथ मनाया जाय, तो सस्कृति की दृष्टि से यह उत्सव अत्यन्त महत्वपूर्ण बन सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस उत्सव के मनाने की विधि मे साहित्य, सगीत और कला का यथोचित समावेश किया जाय। इसी उद्देश्य से यहा एक कार्यक्रम उपस्थित किया जाता है

सबसे पहली बात तो यह है कि वसन्तोत्सव नगर के कोलाहल से दूर किसी उपवन मे मनाया जाय। नाना प्रकार के ऊधमो के बीच शहर की धुआधार गन्दी गलियो में वसन्तोत्सव मनाना वसन्त का मजाक उडाना है और अपने को हास्यास्पद बनाना है। यदि वसन्त मनाना है तो किसी उपवन मे चलिये, जहा आम्रमजरी आपको निमन्त्रण दे रही है, वृक्षो की नवीन कोपल नवजीवन का सन्देश सुना रही है और सुन्दर सुगन्धित पुष्प

आपके हृदय को प्रफुल्लित करने की बाट जोह रहे है। अभी उस दिन हम एक जापानी पत्र (ओसाका असाही) का अंग्रेजी विशेषाक देख रहे थे।' उसमे जापानियो के प्राकृतिक सौन्दर्य-प्रेम का वृत्तान्त पढकर आश्चर्य' हुआ। सुनिये, जापानी लोग वसन्त मे क्या करते है–

"जब चेरी-पुष्पो के खिलने का समय आता है तो वसन्त ऋतु मे उन्हें देखने के लिए सहस्रो ही आदमी जाया करते है। यह वसन्त-यात्रा जापानी जीवन की एक उल्लेखयोग्य वार्षिक घटना हुआ करती है । जहा तक इतिहास से पता चलता है, पहले पहल सन् ८१२ मे सम्राट सग के राज्य मे इस यात्रा का प्रारम्भ हुआ था। इसके बाद इस प्रकार की यात्राए सम्पूर्ण जनता मे लोकप्रिय हो गई। सन् १९१२ मे मार्क्विस योरीमीची तोकूगावा के प्रोत्साहन से जापान मे एक 'चेरी तरु समिति' (Cherry Tree Society) की स्थापना हुई थी। इस समिति के सदस्य वैज्ञानिक तथा साहित्यिक दृष्टि से चेरी-वृक्ष तथा चेरी-पुष्प का अध्ययन करते है और अपने अध्ययन के परिणाम 'चेरी' नामक पत्र मे प्रकाशित करते हैं। यह बात प्रसिद्ध ही है कि चेरी-वृक्ष तथा चेरी-पुष्पो से जापान के साहित्य और ललित कलाओ को बहुत कुछ प्रेरणा मिली है।"

क्या ही अच्छा हो, यदि हम लोग भी अपने नवयुवको के हृदय मे इसी प्रकार का सौन्दर्य-प्रेम उत्पन्न करे।

वसन्तोत्सव के कार्यक्रम को हम कई विभागो मे बाट सकते है .

(१) वसन्त-पचमी के दिन किसी उपवन मे कवि-सम्मेलन, सगीत तथा खेल-कूद इत्यादि द्वारा मनोरजन।

(२) साहित्यिक यात्रा—किसी प्राचीन साहित्य-सेवी की जन्मभूमि अथवा अन्य किसी विशेप स्थान की यात्रा।

(३) अधिकारी विद्वानो द्वारा भिन्न-भिन्न विषयो पर व्याख्यान, उदाहरणार्थ, कला, सगीत, इतिहास इत्यादि के विषय मे भाषण।

वसन्तोत्सव को हम लोग इतना उपयोगी और मनोरजक बना सकते है कि इसके द्वारा हिन्दी-भाषा-भाषी जनता की रुचि का बहुत-कुछ विकास

हो सकता है। यदि इस कार्य को मगठित रूप से किया जाय तो सम्पूर्ण हिन्दी भापा-भाषी प्रान्तो मे अद्‌भुत जाग्रति उत्पन्न हो सकती है। भिन्न-भिन्न स्थानो मे हिन्दी के धुरधर भाषणो का प्रवन्ध कराना असम्भव न होगा। इतिहास, कला, साहित्य आदि के विषय मे अधिकारी व्यक्तियो के भापण कराये जा सकते है। वगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलुगू, कन्नड इत्यादि भाषाओ के साहित्य के विषय मे भी भाषण दिलाना लाभ-दायक होगा। हमारी भाषा को राष्ट्र-भापा का पद मिला है तो हमारा कर्त्तव्य है कि अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे जो कुछ अच्छा है, उसे ग्रहण करने का प्रयत्न करे और अपनी सेवाओ द्वारा उनकी भी वृद्धि मे सहायक हो। हमने सुना है कि वसन्त व्याख्यान-माला का प्रवन्ध महाराष्ट्र मे कितने ही वर्षो से किया जाता है। उसे ग्रहण कर हम और भी व्यापक रूप दे सकते है। कवीन्द्र रवीन्द्र के शान्तिनिकेतन मे वर्षोत्सव, शरदोत्सव और वसन्तोत्सव मनाये जाते है। क्यो न हम लोग एक वार चलकर इन उत्सवो को देखे और उनमे जो-कुछ अच्छा हो, उसे ग्रहण करने का प्रयत्न करे?

अमेरिका मे साधारण जनता के लाभार्थ 'चाटाकुआ शिक्षा-पद्धति' प्रचलित है। वह पत्र-व्यवहार द्वारा, स्थान-स्थान पर ग्रीष्म-विद्यालय खोलकर तथा भ्रमणशील समितियो द्वारा अमेरिका मे शिक्षा-प्रचार करती है। प्रसगवश हम उसकी भ्रमणशील समितियो का सक्षिप्त वृत्तान्त यहा देना उचित समझते है।

जनता मे शिक्षा-प्रचार के अतिरिक्त चाटाकुआ सप्ताह की प्रथा भी वहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। सवसे प्रथम वर्ष के दस दिनो तक होने वाले सम्मेलन की प्रथा को अधिक उपयोगी और अधिक लाभप्रद वनाने के लिए इस सस्था के सचालको ने चाटाकुआ भ्रमणशील समितियो ( Chatahqua circuits ) की स्थापना की। इस समय ऐसी समितियो की सख्या ८७०० तक पहुच गई है। ये समितिया सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के भिन्न-भिन्न शहरो मे खोली गई है। इन समितियो ने

जनता मे शिक्षा फैलाने मे बहुत बडा भाग लिया है। प्रत्येक समिति वर्ष मे आसपास के छ शहरो मे एक ही तारीख मे चाटाकुआ-सप्ताह का समारोह करती है। इस समारोह के लिए प्रत्येक नगर मे एक विशाल मडप बनाया जाता है, जिसे बहुत अच्छी तरह सुसज्जित किया जाता है। प्रति दिन की कार्रवाई विशेष मनोरजक और शिक्षाप्रद बनाई जाती है। सबेरे कई विषयो पर विद्वत्तापूर्ण व्याख्यान कराए जाते है। दोपहर के बाद सगीत और वाद्यादि तथा रात को नाटक, प्रहसन, भिन्न-भिन्न खेल अथवा बडे-बडे राजनीतिज्ञो और प्रसिद्ध पुरुषो के विविध विषयो पर उपयोगी भाषण होते है। एक वक्ता एक शहर मे पहले दिन भाषण देकर दूसरे शहर मे चला जाता है, और वहा भाषण देकर तीसरे दिन तीसरे शहर मे चला जाता है। इस तरह कुछ कार्यकर्त्ता ही छ शहरो मे सप्ताह-समारोह मनाने के लिए काफी होते है।

चाटाकुआ मे व्याख्यान देने के लिए अपने-अपने विषय के प्रामाणिक विद्वानो, योग्य वक्ताओ और उत्तम प्रचारको को निमन्त्रित किया जाता है। केवल अमेरिका के ही नही, यूरोप के विद्वान भी यहा व्याख्यान देने के लिए बुलाये जाते है। बडे-बडे विद्वान यहा व्याख्यान देने मे अपना सम्मान समझते है। केवल उत्तम वक्ता और योग्य विद्वान ही नही, उत्तम नाटक, अभिनय और प्रहसन आदि मे अत्यन्त प्रवीण पुरुषो को निमत्रित किया जाता है। वहा एक पुरुष एक सत्र (सेशन) मे ऐसे अच्छे-अच्छे अभिनय, सगीत और भिन्न-भिन्न वाद्य सुन सकता है, जिनकी उसने पहले कभी कल्पना भी न की होगी। सुप्रसिद्ध पहलवान आकर वहा लोगो को विविध प्रकार से व्यायाम आदि भी सिखाते है।

यह एक ऐसी सस्था है—ऐसा शिक्षण-क्रम है—जिससे जनता की बौद्धिक और नैतिक उन्नति की जा सकती है। प्रसिद्ध अमेरिकन रूजवेल्ट ने इस अपूर्व शिक्षण-पद्धति के लिए कहा था कि अमेरिका मे सबसे अधिक अमेरिकन चीज यही है। यह एक व्यावहारिक पद्धति है। शिक्षा-जगत् मे इसने क्रान्ति कर दी है। आज अमेरिका ही नही, यूरोप मे भी इस पद्धति का

: १५ .

# हमारे साहित्यिक उत्सव

फीरोजावाद मे भारती भवन पुस्तकालय मे तुलसी-जयन्ती का उत्सव था। समय रक्खा गया था रात के साढे आठ वजे। भारती-भवन जहा पर स्थित है वहा अनेक गन्दी गलियो को पार करके जाना पडता है। फीरोजावाद के व्यापारी-समाज को साढे आठ या नौ वजे से पहले अवकाश नही मिलता और मुख्यतया उनकी सुविधा के लिए रात का वक्त रक्खा जाता है। हम समझते है कि किसी साहित्यिक के भाग्य की इससे वदतर विडम्वना नही हो सकती कि उसे अनधिकारी आदमियो की फुर्सत का खयाल करके अपनी वात कहनी पडे।

उत्सवो को हम चित्त की स्फूर्ति या आनन्द के लिए अथवा श्राद्ध की भावना से मनाते है, इसलिए यह आवश्यक है कि वे उपयुक्त वायुमडल मे मनाये जावे।

हमारे यहा प्राचीन काल मे 'अभ्यूष खादनिका' नामक पिकनिक मनाये जाते थे और उनका उद्देश्य होता था चना, उडद, मटर, गेहू, जौ इत्यादि को कच्ची अवस्था मे भून कर खाना। उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलो मे 'हावुस' झुलसे हुए अन्न को कहते है, जो अभ्यूष का वशज मालूम होता है।

वाजार से जामुन मोल लेकर खाने और खुद पेड पर चढकर जामुन तोडने मे जमीन-आसमान का अन्तर है।

टपको परत वहार लदी जामुन जामुनतर।
भारत 'जंबू द्वीप' कहावत जनु जिनही पर ॥

कविवर सत्यनारायण की इन पक्तियो की सत्यता अनुभव की जा

इतराति उतावरी बावरी सी,
सरिता चढि सिन्धु को धावती हैं।

और सत्यनारायणजी का 'पावस-प्रमोद' भी बहुत सामयिक होगा—

जारि जवासे जोर जचावन मोर नचावन
करखा धूम रचावन बरखा धूम मचावन
कारी कारी अधियारी भारी झपकावन
टप टप टपका टपका घर बागन टपकावन।

अन्य ऋतुओ के उत्सव कैसे मनाये जाय, इसके लिए विद्वानो से परामर्श कर लेना चाहिए। कुछ उत्सव जनपदीय होगे, कुछ प्रान्तीय और कुछ अखिल भारतीय। ये उत्सव देश की परिस्थिति के अनुकूल और समय की गति को देखकर मनाने चाहिए।

जयन्तियो अथवा पुण्य-तिथियो के विषय मे हमे सर्वथा उदार दृष्टिकोण से काम लेना चाहिए। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर और सर मुहम्मद इकबाल दोनो ही की जयन्ती और पुण्य-तिथि हमे मनानी चाहिए। रोम्या रोला और गोर्की के जन्म-दिवस तथा पुण्यतिथि को हम कैसे भूल सकते है ? महाकवि हाली और नजीर अकबरावादी के जन्मदिवस हम क्यो न मनावे ? हमने सुना है कि नजीर की समाधि पर पहले एक मेला हुआ करता था, जिसमे हिन्दू-मुसलमान दोनो शामिल हुआ करते थे। उस मेले के पुनरुद्धार की जरूरत है। साथ ही हमे कबीर-मेले का भी आयोजन करना चाहिए।

कृष्ण कन्हैया के बालपन पर इतनी बढिया कविता सूरदास को छोडकर और किसने लिखी है ? और मुनाजाते बेवा (विधवा विलाप) के लेखक हाली को तो हम हिन्दी कवि मानते है। हाली-शताब्दी पर हमने पानीपत की तीर्थ-यात्रा की थी। क्या ही अच्छा हो यदि कुछ हिन्दी-लेखक और कवि पानीपत की यात्रा करे।

हमारे आसपास के ग्रामवासी भी हमारे उत्सवो मे शामिल हो सके ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए। यदि बरसात का मौसम हो तो आल्हाखड के

गाये जाने का इन्तजाम किया जा सकता है और ख्याल भी गवाये जा सकते हैं। बुन्देलखड मे मैरो के गाये जाने का आयोजन हो सकता है। ईसुरी की फागो का रग जम सकता है। जनपदीय भाषाओ की कविताओ का आश्रय लिये विना हम अपने ग्रामीण भाइयो को आकर्षित न कर सकेंगे। यह वात हमे न भूलनी चाहिए कि हमारी भाषा तथा सस्कृति की जड ग्रामो मे है और ग्रामो के साथ हमे सजीव सम्बन्ध बनाये रखना है।

अपने कवियो या लेखको की स्मृति को ताजा बनाये रखने के लिए हमे उनके नाम पर वाचनालय अथवा पुस्तकालय कायम करने चाहिए और कुछ न कर सके तो उनके नाम पर दो-चार वृक्ष ही उगा दे। तुलसी उपवन या रहीम बाग की स्थापना करना वास्तव में कही अधिक लाभदायक होगा।

एक यूरोपियन महाकवि हैनरिक वर्जीलैड अपनी जेब में बराबर वृक्षो के बीज लिये हुए घूमते थे और नित्यप्रति टहलते हुए वे उन बीजो को उपयुक्त स्थानो में गाढ देते थे। यही नही, वे अपने मित्रो से भी कहा करते थे कि आप भी ऐसा ही कीजिये। उनका कहना था कि न जाने कौन बीज उगकर कैसा वृक्ष बन जावे और आस-पास के दृश्य को कितना सुन्दर बना दे।

नार्वे के महान् लेखक जॉनसन ने उनके स्मारक के उद्घाटन के अवसर पर अपने भाषण में कहा था कि वर्जीलैंड का यह कार्य उनकी सर्वोत्तम कविताओ से भी अधिक काव्यमय था।

हमारा देश रेगिस्तान बनता जा रहा है और यदि हम लोगो ने वृक्षो का उगाना प्रारम्भ न किया तो कुछ वर्षो में ही हमे अपने उत्सव रेत के टीलो पर धूल फाकते हुए मनाने होगे।

जो व्याख्यानदाता इन उत्सवो मे सम्मिलित होने के लिए बुलाये जावे उन्हे अपने भाषण पहले से तैयार कर लेने चाहिए। तत्काल जो मन में आया, अट-सट बक देने की प्रथा-सी हमारे यहा पड गई है। इसे बन्द करना चाहिए।

मान लीजिए—हमारे श्रोताओ की सख्या एक सौ है और हम आध घटा समय लेते है तो श्रोताओ के पचास घटे तो हमने ले लिये । यदि हम अपने भाषण की तैयारी मे चार-पाच घटे भी व्यय न करे तो फिर जनता के पचास घटे लेने का हमे क्या अधिकार है ?

हमारे यहा कल्पना-शक्ति का कितना अभाव है और पारस्परिक सहयोग की कितनी कमी है, इसके प्रमाण हमे पग-पग पर मिलते है । फीरोजाबाद मे उत्सव हो रहा है, पर टूडला से उसका कोई सम्बन्ध नही ! गोरखपुर मे एक बहुत ही बढिया कवि-सम्मेलन हुआ था, जिसमे दो-ढाई हजार रुपए खर्च हुए थे, पर पास के छपरे जिले को उसकी कुछ खबर ही न थी ।

उत्सवो के विषय मे हमारा एक निश्चित विश्वास है और वह यह कि उत्सवो के प्रारम्भ के पूर्व दो सप्ताह तक आस-पास के ग्रामो तथा नगरो मे काफी प्रचार किये बिना यह उत्सव सफल नही बनाये जा सकते । जो कवि या वक्ता महोदय उत्सवो पर पधारे उनसे भी एक-दो दिन आस-पास के स्थलो के लिए लेने चाहिए । हमे उपस्थित विद्वानो तथा कवियो के सत्सग का सौभाग्य अधिक-से-अधिक व्यक्तियो को देना चाहिए ।

कही-कही उल्टी बात देखने मे आती है । वह यह कि स्थानीय लेखको तथा कवियो को प्रोत्साहित करने के लिए एक धेला भी खर्च नही किया जाता और बाहर से आनेवालो को सौ-सौ दो-दो सौ, रुपये भेट कर दिये जाते है । इसमे सामजस्य की जरूरत है । अपने स्थानीय लेखको तथा कवियो की योग्यता को बढाने के लिए हम जो-कुछ भी करे, थोडा होगा । उन्हे पढने के लिए ग्रन्थ मिलने चाहिए और यात्राओ के लिए मार्ग-व्यय । आखिर तो हमे उन्ही लोगो पर निर्भर रहना है, बाहर से तो कभी-कभी ही साहित्यिक या कवि बुलाये जा सकते है ।

हम लोगो का जीवन इतना नीरस हो गया है कि उसमे रस का सचार करने के लिए हमे उत्सवो की विधिवत व्यवस्था करनी होगी । केवल राजनैतिक जाग्रति ही पर्याप्त नही है, उसके साथ-साथ साहित्यिक तथा सास्कृतिक जाग्रति भी होनी चाहिए ।

: १६ :

# जनपदों का पुनर्निर्माण

"जिस जाति मे स्वप्नदर्शी व्यक्ति नही होते, वह नष्ट हो जाती है।" अमरीकन ऋषि एमर्सन का यह कथन सर्वथा सत्य है। आज हमारे सपूर्ण देश को, प्रत्येक प्रान्त और जनपद को, वल्कि हम तो यहा तक कहेगे कि प्रत्येक ग्राम को स्वप्नदर्शी और क्रियाशील व्यक्तियो की आवश्यकता है।

हमारा मुल्क आजाद हो गया है। उसे आवाद करना है। हरा-भरा वनाना है और उस महान् यज्ञ के लिए सहस्रो-लक्षो कार्यकर्त्ताओ की जरूरत पडेगी। ये कार्यकर्ता भिन्न-भिन्न कोटि के होगे, जिनके वीच मे छोटे-वडे का भेद नही हो सकता। किसान-मजदूर के शारीरिक श्रम तथा लेखक व कवि के मानसिक श्रम मे छुटाई-वडाई का मापदड क्या कोई हो सकता है? किसी भवन के निर्माणार्थ इजीनियर, कारीगर और मजदूर सभी का पारस्परिक सहयोग आवश्यक है। दभी है वे, जो अपने कार्य को तो महत्वपूर्ण समझते है और दूसरो के कार्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखते है।

निस्सदेह आज की सवसे वडी समस्या हमारे लिए अन्न-वस्त्र की है—"भूखे भजन न होय गुपाला।" हमे स्वय स्वेच्छापूर्वक अपने साहित्य को ही नही, अपने जीवन-क्रम को भी युगधर्मानुकूल वना लेना चाहिए। जो भी साहित्यिक इस समय किसी उत्पादक श्रम मे भाग नही लेता, कम-से कम घटा-सवा घटा प्रतिदिन अन्न-वस्त्र के उत्पादन मे अथवा स्वच्छता आदि के कार्यक्रम मे शरीक नही होता, वह अपने जनपद या प्रात के प्रति सच्चा नही है, अपने देश के प्रति वफादार नही है, वल्कि वह अपनी साहित्यिक आत्मा को भी निर्जीव वना रहा है। अपने चारो ओर के वातावरण के प्रति सवेदनशील होने मे ही सजीवता है और हमारे देश को सजीव साहित्यिको

की जितनी आवश्यकता इस समय है, उतनी पहले कभी नही थी।

अन्न-वस्त्र की समस्या के हल हो जाने के वाद मानसिक भोजन का प्रश्न आता है। इसका अभिप्राय यह हर्गिज नही है कि जवतक दस फीसदी अनाज की कमी पूरी न हो जाय, तवतक के लिए हम सत्साहित्य के निर्माण का कार्य ही स्थगित कर दे। यह तो जवरदस्त भूल होगी। दोनो कार्य साथ-साथ चल सकते है और चलाये जाने चाहिए। एकागी विचार-धारा हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए विघातक ही सिद्ध होगी।

मानव-समाज के सामने भावी समाज की यदि कोई कल्पना न होगी तो वह "साक्षात्-पुच्छ विषाणहीन-पशु" वन जायगा—साहित्य-सगीत-कला-विहीन को कवि ने इन्ही शव्दो से स्मरण किया है। इस प्रसग मे हमे आयरलैड के प्रसिद्ध कवि और कलाकार ए० ई० के शव्द याद आ रहे है.

"अर्थशास्त्री हमे दैनिक रोटी दे सकते है, पर भावी दिनो के लिए जिस भोजन की जरुरत प्रभु ईसा ने वतलाई थी, उसका प्रवन्ध तो कोई दूसरे ही करेगे। यह कार्य है कवियो का, कलाकारो का, गायको का और उन वीर तथा उदार महापुरुषो का, जिनका जीवन नमूने के तौर पर जनता के सामने पेश किया जा सके। वे लोग ही उन आदर्शो को जन्म दे सकते है, जिनसे हमारा समाज प्रभावित तथा शासित होगा। कलाकारो का कर्त्तव्य है कि वाछनीय जीवन की कल्पित मूर्ति हमारे सामने उपस्थित करे, आदर्श मानव-जगत् की झलक हमको दिखलावे ओर राष्ट्र की आत्मा का चित्र हमारे सामने खीच कर रख दे। आयरलैड की विफलता की जिम्मेदारी है हमारे उन कवियो पर, जो अपनी दैवी श्रेणी से विलकुल विछुड गये और जो अपनी-अपनी ढपली पर अपना-अपना राग छेडते रहे और साथ ही उस विफलता की जिम्मेदारी उन लेखको पर भी है, जिन्होने मानव-स्वभाव के महत्व पर ध्यान देने के वजाय उसकी क्षुद्रताओ का ही वर्णन करना उचित समझा।"

क्या हमारी व्रजभूमि मे ऐसे कल्पनाशील कवि और लेखक विद्यमान है, जो २५-३० वर्ष आगे का स्वप्न देख सके ?

आज तो व्रजभूमि के सामने सवसे वडा खतरा यह है कि वह रेगिस्तान वनती जा रही है। वनो तथा उपवनो के नष्ट हो जाने का दुष्परिणाम हमारी व्रजभूमि को भुगतना पड रहा है और व्रजभूमि को वचाने के लिए हमे राजस्थान का पुनर्निर्माण करना होगा, क्योकि व्रज और राजस्थान के भाग्य एक-दूसरे से सम्वद्ध है। यह प्रश्न इतना महत्वपूर्ण है कि इसपर उत्तर प्रदेशीय तथा राजस्थानी सरकारो के अधिकारी एक परामर्शदात्री परिषद् वुला सकते है। इनके साथ ही मध्य भारत की सरकार से भी सलाह-मशविरा ले लेना चाहिए, क्योकि व्रजभूमि के कुछ भाग मध्यभारत मे भी है।

हम यह आशा रखते है कि हमारे व्रज-सवधी जनपदीय कार्यक्रम मे उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा मध्यभारत की सरकारे सहायक हो। साहित्यिक तथा सास्कृतिक सुविधा के खयाल से हमे अपने विस्तृत देश को छोटे-छोटे भूमि-खडो मे विभाजित करना है।

व्रज-सस्कृति की रक्षा के लिए व्रजभूमि के प्रति प्रेम उत्पन्न करना अनिवार्यत आवश्यक है। व्रज-सस्कृति को हम गो-सस्कृति कह सकते है। अपने भाषण मे एक मित्र ने कहा था—

"इस व्रजभूमि मे द्वापर-काल मे दो महापुरुषो ने यहा की समस्या वुनियादी ढग पर हल की थी। एक भाई ने धरती माता की रक्षा की और वे 'हलधर' कहलाये और दूसरे भाई ने गाय को सभाला और 'गोपाल' कहलाये। गोपाल और हलधर के समन्वय से यहा दूध की नदिया वहती थी और धरती माता हमे धन-धान्य से पूरित करती थी। भडार भरे थे। उस समय विटामिन की चर्चा नही थी, पर देश को प्राणपोषी भोजन, दुग्ध, घी और मट्ठा अपरिमित मात्रा मे प्राप्त होते थे। अव भी वही गोपाल की भूमि है। यही पर कभी भागवत का निर्माण हुआ था। किंतु आज कितने दु ख की वात है कि आजाद होने पर हमे दूसरे देशो के सामने अन्न के लिए हाथ पसारना पडता है।"

पिछले दिनो हमने पत्रो मे पढा था कि गोवर्द्धन-पर्वत को फिर से हरा-

भरा बनाने की योजना उत्तर प्रदेशीय सरकार के सामने उपस्थित है। यह पढकर हमे जापान की एक घटना का स्मरण हो आया। जापान के एक पहाड पर आग लग जाने से तमाम वृक्ष जल गए। नतीजा यह हुआ कि पर्वत विलकुल नग्न हो गया। दूसरे ही वर्ष वर्षा के आरम्भ होते ही आस-पास के ग्रामो के हजारो जापानी अपनी ओर से एक-एक वृक्ष लेकर उस पहाड पर गए और वहा सहस्रो नवीन वृक्षो को उन्होने रोप दिया। आठ-दश वर्षो मे वह पर्वत ज्यो-का-त्यो हरा-भरा हो गया।

केवल सरकारी मदद के भरोसे गोवर्द्धन हरा-भरा नही हो सकता, 'व्रज' के अपने नाम को सार्थक करने की वात तो रही वहुत दूर! व्रज का अर्थ ही था "वह हरी-भरी भूमि, जहा गौए चरती है।"

आज से ३५-४० वर्ष पूर्व कविरत्न सत्यनारायणजी ने 'भ्रमर दूत' मे कहा था—

**पहले कौ सौ अव न तिहारौ यह वृंदावन।**
**याके चारो ओर भयें वहुविधि परिवर्तन॥**
**बने खेत चौरस नये, काटि घने व्रन-पुंज।**
**देखन को वस रह गये, निधिवन–सेवाकुँज॥**
**कहां चरिहैं गउ ?**
**नहिं बरसावत सघन अव, नियमपूर्वक नीर।**
**जासो गोकुल होत सब, दिन-दिन परम अधीर॥**
**न्यार सपनौ भयौ॥**

जनता के हृदय मे वृक्षो के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न करने की आवश्यकता है।

हमे अपने जनपद के वृक्ष, पशु-पक्षी, नदी-सरोवर और मनुष्य सभी के प्रति आत्मीयता का अनुभव करना है। ऋषिवर अरविंद घोष ने एक जगह लिखा था कि नदियो की मै मातृवत् पूजा करता हू और महाकवि कालिदास ने सरयू नदी को भगवान् की माता के रूप मे स्मरण किया है, जिसकी गोद मे खेल-खेल कर वे वडे हुए थे। मथुरा मे 'जय जमना मैया की' कहने

वाले तो सैकड़ो मिले, पर जमना माता का जीवन-चरित लिखने की कल्पना भी जिनके दिमाग में हो, ऐसा कोई न मिला।

व्रज के दो रूप है एक तो आध्यात्मिक और दूसरा भौगोलिक। हम दोनो के ही प्रेमी है। जहा पर भी व्रज-सस्कृति का कोई भी अनन्य प्रेमी रहता है, चाहे वह प्रशात महासागर के किसी द्वीप मे हो या दक्षिण अमरीका के ब्रिटिश गायना मे, वही वास्तविक व्रजभूमि है—'सबै भूमि गोपाल की जामे अटक कहा!' इसके सिवाय व्रज का दूसरा रूप भी है—यानी वे क्षेत्र जहा व्रजभाषा बोली जाती है। व्रजभाषा कभी काव्य की भाषा थी और आज भी वह बोली के रूप मे जीवित और जागृत है। व्रज से ३४-३५ वर्ष बाहर रहने के बाद हम उसके माधुर्य का जितना अनुभव कर सकते है, उतना वे लोग नही कर सकते, जो निरतर व्रज ही मे रहते है। 'ऊधो मोहि व्रज बिसरत नाही'—भगवान् की यह महत्वपूर्ण उक्ति व्रज के वियोग के बाद की ही है।

अब समय आ गया है, जब कि व्रजभूमि के प्रेमियो को अपने जनपद के पुनर्निर्माण के लिए एक कार्यक्रम बनाना चाहिए।

अपने दृष्टिकोण को हमें बिल्कुल स्पष्टता के साथ जनता के सम्मुख उपस्थित करना है। इसीलिए हम उसे दुहराये देते है—

(१) साहित्यिक तथा सास्कृतिक कार्य की सुविधा के लिए हम क्षेत्रो का विभाजन चाहते है। अब वह युग सदा के लिए लद चुका है, जब वृहदाकार प्रातो के प्रति कोई भक्ति उत्पन्न की जा सके। पहले के पश्चिमोत्तर प्रदेश, बीच के सयुक्त प्रात और अबके उत्तर प्रदेश के प्रति कोई भक्ति कैसे उत्पन्न करे?

(२) बोलियो को हम जीवित रखना चाहते है। एकता का नारा बुलद करके खडी बोली के स्टीम रोलर द्वारा हम व्रजभाषा अथवा बुदेलखडी, अवधी या भोजपुरी के सौष्ठव को नष्ट नही करना चाहते।

(३) अपने क्षेत्र मे हम हिंदी अथवा उर्दू, खडी बोली अथवा व्रजभाषा इत्यादि के झगडो से सर्वथा दूर रहना चाहते है। व्रज-मडल के

साहित्यिक प्रोग्राम मे हम नजीर अकवरावादी के काव्य-सग्रह को देवनागरी लिपि मे छपाने की योजना उसी प्रकार कर सकते है, जिस प्रकार ख्यालगो लोगो के इतिहास लिखाने की।

(४) वोलियो मे रीडरें लिखाने के हम घोर विरोधी है।

(५) प्रत्येक जनपद के लिए हम सर्वांगीण कार्यक्रम वनाने के पक्षपाती है। उदाहरण के लिए यदि कोई व्रजभूमि मे उपवन लगाता है तो उसका कार्य हम किसी भी हालत मे किसी कवि के खड काव्य से कम महत्वपूर्ण नही समझते। फलदार वृक्षो के रोपण और कविता-निर्माण मे छोटे-वडे का भेद नही किया जा सकता। अच्छे दुग्धालय अथवा कृषि-फार्म का कार्य साहित्य-सेवा से कम महत्व नही रखता।

सक्षेप मे यो कहिये कि जनपदो के पुनर्निर्माण के पीछे एक दर्शन है, एक फिलासफी है, एक दृष्टिकोण है। हम यह मानते है कि आगे चलकर यह आदोलन एक प्रवल रूप पकड सकता है और कभी व्रज विश्वविद्यालय भी स्थापित कर सकता है, किन्तु उससे डरने का कोई कारण हमे नही दीखता। यदि शातिनिकेतन और पाडिचेरी मे विश्वविद्यालय कायम हो सकते है तो व्रजभूमि का क्षेत्रफल तो उनसे कई सौ गुना अधिक होगा और उसकी सास्कृतिक पृष्ठभूमि भी कम महत्वपूर्ण नही है।

हमे प्रत्येक जनपद के निवासियो के सम्मुख एक स्वप्न रखना है कि आगे चलकर उनका भूखड कितना सुदर, समृद्ध और सुसस्कृत वन सकता है। यही नही, उस स्वप्न को चरितार्थ करने के लिए ठोस रचनात्मक कार्य भी करना है।

प्रातीयता की भावना को हम देश के लिए घोर विघातक मानते है, पर प्रातीयता और प्रात-प्रेम मे जमीन-आसमान का फर्क है। जो व्यक्ति जिस प्रात या जनपद मे रहता हो, उसे अपनी भक्ति और सेवा सर्वप्रथम उसीको अर्पित करनी चाहिए।

सुप्रसिद्ध रूसी लेखक चैखव ने एक वार कहा था—"यदि प्रत्येक मनुष्य उस भूखड को, जो उसे मिला हुआ है, सुदर वना दे, तो समस्त ससार

कितना सुंदर बन जाय !"

अपनी सीमित शक्तियों द्वारा परिमित क्षेत्र में जो ठोस रचनात्मक कार्य हम कर सकेंगे, वह हमारे लिए कल्याणकारी होगा। विश्व की प्रगतिशील विचारधाराओं का ध्यान करते हुए छोटे-से-छोटे गांव में भी महत्वपूर्ण काम किया जा सकता है।

: १७ :

# हिन्दी का प्रथम आत्म-चरित

सन् १६४१। कोई तीन सौ वर्ष पहले की वात है। एक भावुक हिन्दी-कवि के मन मे नाना प्रकार के विचार उठ रहे थे। जीवन के अनेक उतार-चढाव वे देख चुके थे। अनेक सकटो मे से वे गुजर चुके थे, कई वार वाल-वाल वचे थे। कभी चोर-डाकुओ के हाथ जान-माल खोने की आशका थी तो कभी फासी पर लटकने की नौवत आने वाली थी। कई वार तो वे भयकर वीमारियो से मरणासन्न हो गए थे। गार्हस्थिक दुर्घटनाओ का शिकार उन्हे अनेक वार होना पडा था। एक के वाद एक उनकी दो पत्नियो की मृत्यु हो चुकी थी और उनके नौ वच्चो मे से एक भी जीवित नही रहा था। अपने जीवन मे उन्होने अनेक रग देखे थे, तरह-तरह के खेल खेले थे। कभी वे आशिकी के रग मे सरावोर रहते थे तो कभी धार्मिकता की धुन उनपर सवार थी। एक वार तो आध्यात्मिक फिट के वशीभूत होकर उन्होने वर्षो के परिश्रम से लिखा अपना नवरस का ग्रन्थ गोमती नदी के हवाले कर दिया था! तत्कालीन साहित्य-जगत् में उन्हे पर्याप्त प्रतिष्ठा मिल चुकी थी, और यदि किवदन्तियो पर विश्वास किया जाय तो उन्हे महाकवि तुलसीदास के सत्सग का सौभाग्य ही प्राप्त नही हुआ था, वल्कि उनसे यह सर्टिफिकेट भी मिला था कि 'आपकी कविता मुझे वहुत प्रिय लगी है।' सुना है, शाहजहा वादशाह के साथ शतरज खेलने का अवसर भी उन्हे प्राय मिलता रहता था। सवत् १६९८ ( सन् १६४१ ) मे अपनी तृतीय पत्नी के साथ वैठे हुए और अपने चित्र-विचित्र जीवन पर दृष्टि डालते हुए यदि उन्हे किसी दिन आत्म-चरित का विचार सूझा हो तो उसमे आश्चर्य की कोई वात नही।

नौ वालक हुए मुए, रहे नारि-नर दोइ;<br>
ज्यो तरवर पतझार ह्वै, रहै ठूंठ से होइ।

अपने जीवन के पतझड के दिनो में लिखी हुई इस छोटी-सी पुस्तक से यह आशा उन्होने स्वप्न मे भी न की होगी कि वह सौ वर्ष तक हिन्दी-जगत् मे उनके यश शरीर को जीवित रखने मे समर्थ होगी ।

कविवर वनारसीदास के आत्म-चरित 'अर्द्धकथानक' को आद्योपान्त पढने के वाद हम इस परिणाम पर पहुचे है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे इस ग्रन्थ का एक विशेष स्थान तो होगा ही, साथ ही इसमे वह सजीवनी शक्ति विद्यमान है, जो इसे अभी कई सौ वर्ष और जीवित रखने मे सर्वथा समर्थ होगी । सत्य-प्रियता,स्पष्टवादिता, निरभिमानता और स्वाभाविकता का ऐसा जवर्दस्त पुट इसमें विद्यमान है, भाषा इस पुस्तक की इतनी सरल है और साथ ही यह इतनी सक्षिप्त भी है कि साहित्य की चिरस्थायी सम्पत्ति मे इसकी गणना अवश्यमेव होगी । हिन्दी का तो यह प्रथम आत्म-चरित है ही, पर अन्य भारतीय भाषाओ मे इस प्रकार की और इतनी पुरानी पुस्तक मिलना आसान नही ।

सवसे अधिक आश्चर्य की वात तो यह है कि कविवर वनारसीदास का दृष्टिकोण आधुनिक आत्म-चरित लेखको के दृष्टिकोण से विलकुल मिलता-जुलता है । अपने चारित्रिक दोषो पर उन्होने पर्दा नही डाला है, वल्कि उनका विवरण इस खूवी के साथ दिया है, मानो कोई वैज्ञानिक तटस्थ वृत्ति से कोई विश्लेषण कर रहा है । आत्मा की ऐसी चीर-फाड कोई अत्यन्त कुशल साहित्यिक सर्जन ही कर सकता था । यद्यपि कविवर वनारसीदास एक भावुक व्यक्ति थे (गोमती मे अपने ग्रन्थ को प्रवाहित कर देना और सम्राट अकवर की मृत्यु का समाचार सुनकर मूर्च्छित हो जाना उनकी भावुकता के प्रमाण है), तथापि इस आत्म-चरित मे उन्होने भावुकता को स्थान नही दिया । अपनी दो पत्नियो, दो लडकियो और सात लडको की मृत्यु का जिक्र करते हुए उन्होने केवल यही कहा है

**तत्व दृष्टि जो देखिये, सत्यारथ की भाति ;**
**ज्यो जाकौ परिगह घटै, त्यो ताकौ उपसाति ।**

यह दोहा पढकर हमे प्रिंस क्रोपाटकिन की आदर्श शैली की याद आ

गई। उनका आत्म-चरित १९वी शताब्दी का सर्वोत्तम आत्म-चरित माना जाता है। उसमे उन्होने अपने अत्यन्त प्रिय अग्रज की मृत्यु का जिक्र केवल एक वाक्य मे किया था—"कितने ही महीनो तक हमारी कुटी पर दु ख की घटा छाई रही।" यह बात ध्यान देने योग्य है कि एलेक्ज़ेण्डर क्रोपाटकिन ज्योतिर्विज्ञान के बडे पण्डित थे, जार की रूसी नौकरशाही ने निरपराध ही उन्हे साइबेरिया मे निर्वासित कर दिया था और वहा से लौटते समय उन्होने आत्मघात कर लिया था।

कविवर बनारसीदास आत्म-चरित लिखने मे सफल हुए, इसके कई कारण है। उनमे एक तो यह कि उनके जीवन की घटनाए इतनी वैचित्र्य-पूर्ण है कि उनका यथाविधि वर्णन ही उनकी मनोरजकता की गारण्टी बन सकता है। दूसरा कारण यह है कि कविवर मे हास्य-रस की प्रवृत्ति अच्छी मात्रा मे पाई जाती थी। अपना मजाक उडाने का कोई मौका वे नही छोडना चाहते थे। कई महीनो तक वे एक कचौडी वाले से दुवक्ता कचौडी खाते रहे थे। फिर एक दिन उन्होने एकान्त मे उससे कहा

**तुम उधार कीनौ बहुत, आगे अब जनि देहु।**
**मेरे पास किछू नहीं, दाम कहां से लेहु ?**

पर कचौडीवाला भला आदमी निकला और उसने उत्तर दिया—

**कहै कचौरी बाल नर, बीस रुपैया खाहु।**
**तुम सौ कोऊ न कछु कहै, जहां भावै तहां जाहु॥**

वे निश्चिन्त होकर छ -सात महीने तक दोनो वक्त भर-पेट कचौडिया खाते रहे, और फिर जब पैसे पास हुए तो १४) रु० देकर हिसाब भी साफ कर दिया।

कविवर बनारसीदास कई बार बेवकूफ बने थे और अपनी मूर्खताओ का उन्होने बडा मनोहर वर्णन किया है। एक बार किसी धूर्त सन्यासी ने आपको चकमा दिया कि अगर तुम अमुक मन्त्र का जाप पूरे साल-भर तक बिलकुल गोपनीय ढग से पाखाने मे बैठकर करोगे तो वर्ष बीतने पर घर के दरवाजे पर एक अशर्फी रोज मिला करेगी। उन्होने इस कल्पद्रुम मन्त्र

का जाप उक्त दुर्गन्धिमय वायुमडल मे विधिवत् किया, पर स्वर्णमुद्रा तो क्या, उन्हे कानी कौडी भी न मिली।

बनारसीदासजी का आत्म-चरित पढते हुए ऐसा प्रतीत होता है, मानो हम कोई फिल्म देख रहे है। कही पर वे चोरो के ग्राम मे लुटने से बचने के लिए तिलक लगाकर ब्राह्मण बनकर चोरो के चौधरी को आशीर्वाद दे रहे है तो कही अपने साथी-सगियो की चौकडी मे नाच रहे है या जूतम पैजार का खेल खेल रहे है —

**कुमती चारि मिले मन मेल। खेला पैजारहु का खेल।**
**सिर की पाग लेंहि सब छीन। एक एक कौं मारसि तीन।**

एक बार घोर वर्षा के समय इटावे के निकट उन्हे एक उद्दण्ड पुरुष की खाट के नीचे टाट बिछाकर अपने दो साथियो के साथ लेटना पडा था। उस गवार धूर्त ने उनसे कहा था कि मुझे तो खाट के बिना चैन नही पड सकती और तुम इस फटे हुए टाट को मेरी खाट के नीचे बिछा कर उसपर शयन करो।

**एवमस्तु बानारसि कहै। जाहि जैसी पर सो सहै**
**जैसा कातै तैसा बुनै। जैसा बोवै तैसा लुनै।**
**पुरुष खाट पर सोया भले। तीनो जने खाट के तले।**

एक बार आगरे को लौटते हुए कुर्रा नामक ग्राम में उनपर और उनके साथियो पर झूठे सिक्के चलाने का भयकर अपराध लगाया गया था और उन्हे तथा उनके अन्य १८ साथी यात्रियो को फासी लगाने के लिए सूली भी तैयार कर ली गई थी। उस सकट का व्यौरा भी रोगटे खडे करने वाले किसी नाटक-जैसा ही है। उस वर्णन मे भी उन्होने अपनी हास्य-प्रवृत्ति को नही छोडा।

सबसे बडी खूबी इस आत्म-चरित की यह है कि वह ३०० वर्ष पहले के साधारण भारतीय जीवन का दृश्य ज्यो-का-त्यो उपस्थित कर देता है। क्या ही अच्छा हो, यदि हमारे कुछ प्रतिभाशाली साहित्यिक इस दृष्टान्त का अनुकरण कर आत्म-चरित लिख डाले। यह कार्य उनके लिए और भावी

जनता के लिए भी बडा मनोरजक होगा। वकौल वधुवर वालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के शब्दो मे—

'आत्म-रूप-दर्शन में सुख है, मृदु आकर्षण-लीला है,
और विगत जीवन-संस्मृति भी स्वात्म-प्रदर्शनशीला है,
दर्पण में निज बिम्ब देखकर यदि हम सब खिच जाते है,
तो फिर संस्मृति तो स्वभावतः नरहिय-हर्षणशीला है।

स्व० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'चैतालि' मे 'सामान्य लोक' शीर्षक एक कविता लिखी है, जो इस प्रकार है—

'सन्ध्या बेला लाठि कांखे बोझा वहि शिरे
नदी तीरे पल्लीवासी घरे जाय फिरे
शत शताब्दी परे यदि कोनो मते
मन्त्रवले, अतीतेर मृत्युराज ह'ते
एइ चाषी देखा हये मूत्तिमान
एइ लाठि कांखे लये विस्मित नयन
चारि दिके घिरि तारे असीम जनता
काडाकाड़ि करि लबे ता'र प्रति कथा
ता'र सुख—दु ख यत ता'र प्रेम - स्नेह
ता'र पाड़ा प्रतिवेशी ता'र निज गेह
ता'र क्षेत ता'र गरु ता'र चाष वास
शुने-शुने किछु तेइ मिटिबे न आश !
आजि यॉर जीवनेर कथा तुच्छतम
से दिन शुनावे ताहा कवित्वेर सम।'

अर्थात्—"सन्ध्या-समय काख मे लाठी दवाए और सिर पर वोझ लिये कोई किसान नदी के किनारे-किनारे घर को लौट रहा है। अनेक शताब्दियो के वाद यदि किसी प्रकार मन्त्र-वल से अतीत के मृत्यु-राज्य से वापस वुलाकर इस किसान को मूर्त्तिमान दिखला दिया जाय तो आश्चर्य-चकित होकर असीम जनता उसे चारो ओर से घेर लेगी और उसकी प्रत्येक कहानी

को उत्सुकतापूर्वक सुनेगी। उसके सुख-दु ख, प्रेम-स्नेह, पास-पडोसी, घर-द्वार, गाय-बैल, खेत-खलिहान इत्यादि की वाते सुनते-सुनते जनता अघायगी नही। आज जिसके जीवन की कथा हमे तुच्छतम दीख पडती है, वह शत-शताब्दियो के वाद कवित्व की तरह सुनाई पडेगी"

मान लीजिए, यदि आज हमारी मातृभाषा के २०-२५ लेखक विस्तार-पूर्वक अपने अनुभवो को लिपिवद्ध कर दें तो सन् २२५४ में वे उतने ही मनोरजक और महत्त्वपूर्ण वन जायगे, जितने कि कविवर वनारसीदासजी के अनुभव आज प्रतीत होते है।

गदर को हुए अभी वहुत दिन नही हुए है। अभी हमारे देश मे ऐसे व्यक्ति मौजूद है, जिन्होने सन् १८५७ का गदर देखा था। इस गदर का आखो-देखा विवरण एक महाराष्ट्र यात्री श्रीयुत विष्णु भट्ट ने किया था और सन् १९०७ मे सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने इसे लेखक के वशजो के यहा पडा हुआ पाया था। उन्होने उसे प्रकाशित भी करा दिया। उसकी मूल प्रति पूना के भारत-इतिहास-सशोधक-मडल मे सुरक्षित है। जव विष्णु भट्ट को पूना मे यह खबर लगी कि श्रीमती वायजावाई सिन्धिया मथुरा मे सर्वतोमुख यज्ञ कराने वाली है तो उन्होने मथुरा आने का निश्चय किया। पिताजी से आज्ञा मागी तो उन्होने उत्तर दिया—'उधर अपने लोग वहुत कम है। मार्ग कठिन है। लोग भाग और गाजा पीने वाले है और मथुरा की स्त्रिया मायावी होती है।'

विष्णु भट्ट को मथुरा की मायावी स्त्रियो से सुरक्षित रखने के लिए उनके चाचा भी साथ हो लिये थे और इन्ही चाचा-भतीजे का यात्रा-वृत्तान्त आज ९७ वर्ष वाद एक ऐतिहासिक ग्रन्थ बन गया है।

क्या ही अच्छा होता, यदि हिन्दी के धुरन्धर विद्वान आगे आनेवाली सन्तान के लिए अपनी अनुभूतियो को सुरक्षित रखते। कितने पाठको को यह मालूम है कि महामना मालवीयजी ने आज से ६०-७० वर्ष पहले कालेज के दिनो मे एक प्रहसन लिखा था, जिसमे झवकडसिह के रूप मे अपना चित्रण किया था? मालवीयजी की 'अपने सम्वन्ध मे' शीर्षक कविता सुन

लीजिए :

'गरे जूही के हैं गजरे, पड़ा रंगी दुपट्टा तन,
भला क्या पूछिए धोती तो ढाके से मगाते हैं।
कभी हम वारनिश पहने, कभी पंजाब का जोड़ा,
हमेशा पास डडा हैं, ये 'फक्कड़सिंह' गाते हैं।
न ऊधो से हमें लेना, न माधो का हमें देना,
करें पैदा जो, खाते हैं व दुखियो को खिलाते हैं।
नहीं डिप्टी बना चाहें, न चाहें हम तसिल्दारी,
पड़े अलमस्त रहते हैं, यूंही दिन को बिताते हैं।
न देखें हम तरफ उनकी, जो हमसे नेक मुंह फेरें,
जो दिल से हमसे मिलते हैं, झुक उनको देख जाते हैं।
नही रहती फिकर हमको कि लावें तीर औ' लकडी,
मिले तो हलवे छन जावें, नहीं झूरी उडाते हैं।
सुनो यारो जो सुख चाहो, तो पचडे से गृहस्थी के-
छुटो, फक्कड़पना ले लो, यही हम तो सिखाते हैं।
हमें मत भूलना यारो, बसे हम पास 'मनमोहन,'
हुई है देर जाते हैं, तुम्हारा शुभ मनाते हैं।'

यदि स्व महावीर प्रसाद द्विवेदीजी ने अपना जीवन-चरित लिख दिया होता, तो हमे दौलतपुर से ३६ मील दूर रायबरेली को आटादाल पीठ पर लादे हुए पैदल जानेवाले उस तपस्वी बालक के और भी वृत्तान्त सुनने को मिलते जो रोटी बनाना नही जानता था और जो इसलिए दाल ही मे आटे की टिकिया डालकर और पकाकर खा लिया करता था। ससार दु खमय है और उसमें निरन्तर दुर्घटनाये घटा ही करती है। यदि कोई मनुष्य हृदय-वेदना को चित्रित कर दे तो वह बहुत दिनो तक जीवित रह सकती है। कोई बारह सौ वर्ष पहले पो-चूई नामक किसी चीनी कवि ने अपनी तीन वर्ष की स्वर्गीया पुत्री स्वर्णघटी के विषय मे एक कविता लिखी थी, वह अब भी जीवित है।

जब कविवर शकरजी ने क्वार सुदी ३ सवत् १९८१ को अपनी डायरी मे निम्नलिखित पक्तिया लिखी थी, उस समय की उनकी हृदय-वेदना का अनुमान करना भी कठिन है। 'महाकाल रुद्र देवाय नम । हाय' आज क्वार सुदी ३ सवत् १९८१ वि बुधवार को दिन के ११ बजे पर प्यारा ज्येष्ठ पुत्र उमाशकर मुझ बूढे बाप से पहले ही स्वर्ग को चला गया। हाय बेटा! अब मेरी क्या दुर्गति होगी! प्यारा पुत्र पाच मास से बीमार था। बहुतेरा इलाज किया-कराया, कुछ भी लाभ न हुआ। प्यारे पुत्र का रोग बढता ही गया। बहुतेरा समझाया, कुछ फल न मिला। मरने के दिन अच्छा भला बाते कर रहा है। यकायक सास बढने लगा। चि हरिशकर और श्यामलाल ऋषि ने बोलते-बोलते ही अचेत होने पर जमीन पर ले लिया। केवल दो मिनट चुप रहा, दम निकल गया। हाय बेटा, उमाशकर अब कहा —

आज उमाशकर सुत प्यारा,
हाय हुआ हम सबसे न्यारा।
हे शकर कविराज सुख सकट द्वारा छिना।
निरख दिवाली आज, हाय उमाशकर बिना॥

ससार मे न जाने कितने अभागे पिताओ पर यह वज्रपात होता है और पुत्र-हीन कितनी दिवालिया उन्हे अपने जीवन मे देखनी पडती है।

जब स्व प पद्मसिह शर्मा ने महाकवि अकबर के छोटे लडके हाशम की बेवक्त मौत पर सवेदना का पत्र भेजा था तो उसके जवाब मे अकबर साहब ने लिखा था—'अगरचे हवादसे-आलम (सासारिक विपत्तियो की दुर्घटनाए) पेशे नजर रहते है और नसीहत हासिल किया करता हू, लेकिन हाशम मेरा पूरा कायम मुकाम (प्रतिनिधि, कविता-सम्पत्ति का सच्चा उत्तराधिकारी) तैयार हो रहा था और मेरे तमाम दोस्तो और कद्र अफजाओ से मुहब्बत रखता था। उसकी जुदाई का नेचरल तौर पर बेहद कलक हुआ है।' उस समय अकबर साहब ने एक कविता लिखी थी, जिसका एक पद्य यह है

'आगोश से सिधारा मुझसे यह कहनेवाला,
अव्वा, सुनाइए तो क्या आपने कहा है ।
अशआर हसरत आगीं कहने की ताब किसको,
अब हर नजर है नौहा, हर सास मरसिया है ।"

कौन अनुमान कर सकता है उस भयकर हार्दिक वेदना का, जिससे प्रेरित होकर 'अर्द्धकथानक' के सम्पादक वन्धुवर श्री नाथूराम प्रेमी ने ये पक्तिया लिखी है–

'जो अपनी स्वर्गीया जननी के ही समान
निष्कपट और साधु चरित था,
जिसने ज्ञान की विविध शाखाओ का
विशाल अध्ययन और मनन किया था,
जो शीघ्र ही भारती माता के चरणो में
अनेक भेंटें चढाने के मनसूबे बांध रहा था,
परन्तु जिसे दैव ने अकाल में ही उठा लिया,
अपने उसी एकमात्र पुत्र
स्व. हेमचन्द्र को ।'

मेरे अनुज स्व रामनारायण चतुर्वेदी (एम ए, अध्यापक आगरा कालेज) की आकस्मिक मृत्यु पर महात्मा गाधी ने सेगाव (वर्धा) से लिखा था–"जिस रास्ते रामनारायण गये, उसी रास्ते हम सबको जाना है। समय का ही फरक है । उसमे शोक क्या ?" निस्सन्देह जिस रास्ते उस चीनी कवि की पुत्री 'स्वर्णघटी' आज से वारह सौ वर्ष पहले गई थी, उसी रास्ते उमाशकर जी गये, वही महाकवि अकबर का प्यारा पुत्र हाशम गया, उसी धाम को हेमचन्द्र और रामनारायण गये और उसी लोक की यात्रा की कविवर बनारसीदास के नौ वालकों ने । केवल भुक्त-भोगी ही अनुमान कर सकते है दु ख के उस स्रोत का, जहा से ये पक्तिया निकली थी ·

नौ वालक हुए मुए, रहे नारि-नर दोइ ।
ज्यो तरवर पतझार ह्वै, रहैं ठूठ से होइ ।

'अन्त करण का प्रकटीकरण' ('Inside Out') नामक पुस्तक के लेखक ने ससार के ढाई सौ आत्म-चरितो का विश्लेषण करके उक्त पुस्तक लिखी थी और अन्त मे इस परिणाम पर पहुचे थे कि सर्वश्रेष्ठ आत्म-चरितो के लिए तीन गुण अत्यन्त आवश्यक है—(१) वे सक्षिप्त हो, (२) उनमे थोडे मे वहुत बात कही गई हो और (३) वे पक्षपात-रहित हो। 'अर्द्धकथानक' इस कसौटी पर निस्सन्देह खरा उतरता है और यदि इसका अग्रेजी अनुवाद कभी प्रकाशित हो तो हमे आश्चर्य न होगा। कविवर वनारसीदास जानते थे कि आत्म-चरित लिखते समय वे कैसा असम्भव कार्य हाथ मे ले रहे है। उन्होने कहा भी था कि एक जीव की २४ घ` मे जितनी भिन्न-भिन्न दशाये होती है, उन्हे केवल सर्वज्ञ ही जान सकता है और वह भी ठीक-ठीक तौर पर कह नही सकता

**एक जीवकी एक दिन, दसा होइ जैतीक ;**
**सो कहि न सकै केवली, जानै यद्यपि ठीक।**

इसी भाव को मार्क ट्वेन नामक एक अमरीकन लेखक ने इन शब्दो मे प्रकट किया था

"मनुष्य के कार्य और उसके शब्द उसके वास्तविक जीवन के, जो लाखो-करोडो भावनाओ द्वारा निर्मित होता है, अत्यल्प अश है। अगर कोई मनुष्य की असली जीवनी लिखनी शुरू करे तो एक-एक दिन के वर्णन के लिए कम-से-कम ८० हजार शब्द तो चाहिए और इस प्रकार साल-भर मे ३६५ पोथे तैयार हो जायगे। छपनेवाले जीवन-चरितो को तो आदमी के कपडे और वटन ही समझना चाहिए, किसी का सच्चा जीवन-चरित लिखना तो सम्भव नही।" फिर भी ६७५ दोहो और चौपाइयो मे कविवर वनारसीदास ने अपना चरित्र-चित्रण करने मे काफी सफलता प्राप्त की है और उनके इस ग्रन्थ मे अद्भुत सजीवनी शक्ति विद्यमान है। उनके साम्प्रदायिक ग्रन्थो से यह कही अधिक जीवित रहेगा।

यद्यपि हमारे प्राचीन ऋषि-महर्षि 'आत्मान विद्धि' (अपने को पहचानो) का उपदेश सहस्रो वर्षो से देते आ रहे है, पर यह सवसे अधिक

कठिन कार्य है और उससे भी अधिक कठिन है अपना चरित्र-चित्रण। यदि लेखक अपने दोषो को दबाकर अपनी प्रशसा करे तो उसपर अपना ढोल पीटने का इलजाम लगाया जा सकता है, और यदि वह खुल्लमखुल्ला अपने दोषो का ही प्रदर्शन करने लगे तो छिद्रान्वेषी समालोचक यह कह सकते है कि लेखक वनता है और उसकी आत्म-निन्दा मानो पाठको के लिए निमन्त्रण है कि वे लेखक की प्रशसा करे। अपने को तटस्थ रखकर अपने सत्कर्मों तथा दुष्कर्मो पर दृष्टि डालना, उनको विवेक की तराज पर वावन तोले पाव रत्ती तौलना, सचमुच एक महान कलापूर्ण कार्य है। आत्म-चित्रण वास्तव मे 'तरवार की धार पै धावनो है।' इस कठिन प्रयोग मे अनेक वडे-से-वडे कलाकार भी फेल हो सकते है और छोटे-से-छोटे लेखक और कवि अद्भुत सफलता प्राप्त कर सकते है। वहुत सम्भव है कि महाकवि तुलसीदास को जो कविवर वनारसीदास के समकालीन थे, आत्म-चरित लिखने मे उतनी सफलता न मिलती, जितनी वनारसीदासजी को मिली। यदि किसी चित्र खिचवानेवाले को तस्वीर देते समय विशेष रूप से आत्म-चेतना हो जाय तो उसके चेहरे की स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी। उसी प्रकार आत्म-चरित लेखक का अहभाव अथवा पाठक क्या खयाल करेगे, यह भावना उसकी सफलता के लिए घातक हो सकती है।

आत्म-चित्रण मे दो ही प्रकार के व्यक्ति विशेष सफलता प्राप्त कर सकते है—या तो वच्चो की तरह भोले-भाले आदमी, जो अपनी सरल निरभिमानिता से यथार्थ वाते लिख सकते है अथवा कोई फक्कड, जिन्हे लोकलज्जा से कोई भय नही। फक्कड-शिरोमणि कविवर वनारसीदास ने ३०० वर्ष पहले आत्म-चरित लिखकर हिन्दी के वर्तमान और भावी फक्कडो को मानो न्योता दे दिया है। यद्यपि उन्होने विनम्रता-पूर्वक अपने को कीट-पतगो की श्रेणी मे रखा है (हमसे कीट-पतग की वात चलावे कौन) तथापि इसमे सन्देह नही कि वे आत्मचरित-लेखको मे शिरोमणि है।

# निबन्ध-साहित्य

१. **कल्पवृक्ष (वासुदेव शरण अग्रवाल)** २)

प्राचीन भारतीय सस्कृति का दर्शन कराने वाले निवध-सग्रह

२ **जीवन-साहित्य (काका सा० कालेलकर)** २)

यह निवध-सग्रह हमारी सभ्यता, सस्कृति और आचार-विचारो पर नया प्रकाश डालता है।

३. **लोक-जीवन (काका सा० कालेलकर)** ३॥)

ग्राम सेवको के लिए धार्मिक एव सास्कृतिक भित्ति पर विचारपूर्ण तथा आचरण-योग्य ग्रथ।

४ **अशोक के फूल (हजारी प्रसाद द्विवेदी)** ३)

लेखक के साहित्यिक, सास्कृतिक और शिक्षा-सवधी निवधो का सग्रह।

५ **पृथिवी-पुत्र (डा० वासुदेव शरण अग्रवाल)** ३)

से पढकर पाठको को अपने आसपास की भूमि और उस पर वसने वाले जन को गहराई से समझने के लिए एक विशेष दृष्टिकोण प्राप्त होता है।

६. **पचदशी (सपादक—यशपाल जैन)** १॥)

उच्च कोटि के विद्वानो, चितको एव साहित्यकारो के चुने हुए १५ निवधो का सग्रह।

७ **रूप और स्वरूप (घनश्यामदास बिडला)** ॥=)

विद्वान लेखक के चार विवेचनात्मक निवध।